अग्निपुराण का नाट्य दर्शन

डॉ. सञ्जय कुमार

अग्निपुराण
का
नाट्य दर्शन

डॉ. सञ्जय कुमार

सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस
नई दिल्ली (भारत)

ISBN : 978-93-85981-99-9

प्रकाशकः
सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस
एन-3/25, मोहन गार्डन,
उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059
दूरभाष: 07042082850.
ई-मेल : satyampub_2006@yahoo.com

अग्निपुराण का नाट्य दर्शन

मूल्य : ₹ 400.00
प्रथम संस्करण : 2018

भारत में प्रकाशित-

'सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली के द्वारा प्रकाशित। हर्ष कम्प्यूटर्स, नई दिल्ली द्वारा लेजर टाईपसेटिंग तथा विशाल कौशिक प्रिंटर्स, शाहदरा, द्वारा मुद्रित।

महामहोपाध्याय
प्रो. अभिराजराजेन्द्रमिश्र
पूर्व–कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ.प्र.)

"सनराइज विला"
लोअर समरहिल, शिमला–171005
मो० : 09418041537
ई–मेल : abhiraj96@gmail.com
दिनांक : ....

नान्दीवाक्

'पुराणं पञ्च लक्षणम्' के अनुसार पुराण सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित के परिचायक एवं व्याख्याकार सिद्ध होते हैं। परन्तु पुराणों की इयत्ता, इतने भर में ही सीमित नहीं है। वस्तुतः वे ज्ञान–विज्ञान के महाकोष सिद्ध होते हैं। कर्मकाण्डीय तथा पुरश्चरणात्मक रुढ़ियों से विनिर्मुक्त होने के कारण पुराण जनसामान्य के कण्ठहार बन गए थे। ये सार्ववर्णिक तथा सर्वोपलभ्य थे। यही कारण था कि भारतीय जनता, वेदों से कहीं अधिक, पुराणों से लाभान्वित एवं उपकृत हुई।

दूसरी ओर 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' की वेदव्यासीय उद्घोषणा से सिद्ध था कि पुराण वेदरहस्यों के व्याख्याता भी थे। अतः जो वेद, प्रत्यक्ष रुढ़ियों के कारण सर्वजनाध्येय नहीं थे, वे पुराणों के माध्यम से ही सर्वग्राह्य बन गए। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की सिद्धि, निदर्शनमुखेन, केवल पुराण ही बताते हैं सरल एवं रोचक आरधानशैली में।

यद्यपि, परम्परया पुराणों का कर्तव्य सत्यवती नन्दन कृष्णद्वैपायन व्यास के साथ जुड़ा है, जो मेरी दृष्टि में भारतीय–इतिहास के प्रथम 'शलाकापुरुष' हैं। वह 'महाभारत' के रचनाकार भी हैं, महाभारत–युद्ध (अब से 5077 वर्ष पूर्व) के प्रत्यक्षदर्शी भी हैं। परन्तु एक वाङ्मय–विधा के रूप में 'पुराण' की गणना वेदों के साथ भी की गई है – 'पुराणंयजुषा सह।' इस प्रकार पुराणों की प्राचीनता स्वतः सिद्ध है। पुराणों की लोकप्रियता का ही प्रभाव था कि आर्हतधर्मावलम्बियों ने भी अपने सम्प्रदाय के पुराणों की रचना की।

वस्तुतः पुराण समन्वयात्मक प्रतिपाद्य (Combined Text) के धनी हैं। यदि हम निष्ठापूर्वक अध्ययन करें तो पायेंगे कि पुराण सर्वविध ज्ञान के स्रोत हैं। इनमें अध्यात्म, धर्म, दर्शन, साहित्य, शास्त्र, कला सब कुछ हैं

पौराणिक स्रोतों का ही दाय लेकर, अनेक स्वतंत्र आम्नायों की स्थापना हुई–यह विश्वास भी दृढ़ हो जाता है जब हम 'अग्निपुराण' तथा 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' का अध्ययन करते हैं। ये दोनों पुराण 'पञ्च लक्षण'की सीमा को अतिक्रान्त करते हैं तथा अनेक महार्घ विषयों का परिचय कराते हैं। विष्णुधर्मोत्तरपुराण का समूचा तृतीय खण्ड स्थापत्य, चित्रकला, संगीतशास्त्र, नाट्य एवं रंगमञ्च आदि का अद्‌भुत ज्ञान प्रदान करता है।

मेरे आत्मीयप्रवर, डॉ० हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर के युवा प्राध्यापक डॉ० सञ्जय कुमार का प्रकाश्य ग्रन्थ 'अग्निपुराण का नाट्यदर्शन' मेरे समक्ष है। इस ग्रंथ के सात अध्यायों में, डॉ० कुमार ने आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में प्राप्त संस्कृत नाट्यशास्त्र की देशनाओं की सांगोपांग व्याख्या की है। परन्तु ये देशनाएँ भरत की नहीं, प्रत्युत अग्निपुराण की हैं। अग्निपुराण काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र का अक्षय स्रोत है, पुराणकार ने चतुर्विध अभिनय, चतुर्विध नाट्यवृत्ति, करण, अंगहार, चेटीविधान, नायकनायिका–भेदप्रभेद, सन्धि–सन्ध्यंग तथा रसादितत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन किया है।

इस ज्ञानसामग्री का आकर्षण एवं वैलक्षण्य यही है कि यह नाट्शास्त्र में नहीं अग्निपुराण में विवेचित है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि डॉ० सञ्जय कुमार का यह सारस्वत उपक्रम संस्कृत–जगत् को, विशेषतः नई पीढ़ी के पाठकों को उपकृत करेगा। ग्रंथ को पढ़ कर परितोष हुआ। मैं प्रिय डॉ० कुमार को हार्दिक आशीः प्रदान करता हूँ तथा संस्कृतजगत् की ओर से इस ग्रंथ का अभिनन्दन करता हूँ। सस्नेह

शिमला
18 जुलाई 2017 ई.

अभिराज राजेन्द्र मिश्र

भूमिका

पुराण भारतीय ज्ञान–विज्ञान के कोश हैं। राग–द्वेष से ऊपर उठकर मानव मात्र के सर्वविध कल्याण का उपदेश देना ही पुराणों का मूलोद्देश्य रहा है। फलतः यहाँ आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद आदि के साथ–साथ अर्थशास्त्र, खगोलशास्त्र, मानवशास्त्र, समाजशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र आदि विषयों को भी वृहद रूप से उपस्थित किया गया है। इनका यह उपस्थापन वैदिक शास्त्र परम्परा का पोषक है। वेदों में जो ज्ञान की धारा विकसित हुई उसी का सहज एवं सुव्यवस्थित रूप पुराणों में प्राप्त होता है। उपदेश शैली में निबद्ध पुराणों की संख्या अट्ठारह हैं। ये सभी अपने शास्त्रीय आयामों से शास्त्र परम्परा को समृद्ध करते हैं। सभी पुराणों का एक अपना राग–रंग है, लेकिन उद्देश्य सबका लोक–रञ्जन ही है। जैसे संसार की सभी नदियों का गन्तव्य समुद्र है उसी प्रकार सभी पुराण अपने शास्त्रीय मानदण्डों से सबका विभिन्न रूप से शुभ–चिन्तन करते हैं। यही उनकी शास्त्रीयता है। कहा भी जाता है–

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परिपीडनम्।।

यहाँ यह सुनिश्चित है कि परोपकार और पुण्य रूप में पुराण विधि के प्रतिपादक हैं तथा पाप और पीड़ा के अर्थ में निषेधात्मकता के कारण इसकी शास्त्रियता प्रमाणित होती है। ग्यारहवीं शताब्दी में 'सरस्वती–कण्ठाभरण' के रचयिता भोजदेव ने शास्त्र शब्द की विधि–प्रतिषेधपरक 'शासनात् शास्त्रम्' इस प्रथम व्युत्पत्ति को लेकर शास्त्र शब्द का प्रयोग माना है–

यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणं।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते।।

(सरस्वतीकण्ठाभरण, 2/138)

अर्थात् विधि या निषेध का ज्ञान कराने वाले यानि शासन करने वाला शास्त्र है। उसका अध्ययन करना चाहिए क्योंकि उसी से लोक–व्यवहार का सञ्चालन होता है। पुराणों के सम्बन्ध में यह कथन स्वतः चरितार्थ होता है। यहाँ मनुष्य के विधेय और निषेध दोनों का प्रतिपादन किया गया है। इसी लिए पुराण एक शास्त्र भी है। पुराण हमें संसार की वास्तविक वस्तुस्थिति से परिचय कराता है अतः वह दर्शन भी है। 'शतपथब्राह्मण' में तो पुराण को भी वेद ही बतलाया गया है तथा 'अथर्ववेद' में तीनों वैदिक संहिताओं के साथ ही पुराण का भी उल्लेख किया गया है–

ऋचः सामानिच्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविक्षितः।।

(अर्थववेद 11/9/24)

अर्थात् ऋक्, यजु, साम, छन्द, पुराणादि, वेद द्युलोक तथा स्वर्गस्थ सभी देवता उच्छिष्ट यज्ञ में ही स्थित हैं। अतः संहिताओं के साथ ही पुराण की भी अनादिकाल से उत्पत्ति हो चुकी थी।

पुराणों में 'अग्निपुराण' का अन्यतम् स्थान है। इसमें वृहद् विषयों का समावेश किया गया है। अग्निपुराण की बहुविविधता ही सहज आकर्षण की केन्द्रस्थली है। इसके 383 अध्यायों में अनेक दार्शनिक एवं शास्त्रीय पद्धतियों का व्यावहारिक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है क्योंकि आचरण–व्यावहार की सुघरता सहजता में ही विराजती है। अग्निपुराण के सम्पूर्ण शास्त्रिय पक्ष के ख्यापन में सहजता ही अपनायी गयी है। यथा–सर्गशास्त्र, खगोलशास्त्र, वास्तुशास्त्र, राजशास्त्र, धर्मशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, छन्दशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, अश्वशास्त्र, गजशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा आयुर्वेद एवं धनुर्वेद। इन सबका सरल एवं व्यावहारिक स्वरूप ही यहाँ प्रतिपादित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्त को ही ग्रहण किया गया हैं। यहाँ एक तथ्य मैं स्पष्ट करना चाहूँगा कि प्रारम्भ में सम्पूर्ण काव्य धर्मों को नाट्यशास्त्र ही कहा जाता था। कालान्तर में अलंकार शास्त्र कहा जाने लगा है और आजकल सामान्यतः काव्यशास्त्र की संज्ञा

से विभूषित किया जा रहा है। काव्यशास्त्र का भी दो भागों में व्यावहार हो रहा है। एक काव्य स्वरूप और दूसरा नाट्यस्वरूप। 'अग्निपुराण' में इन्हीं के अनुरूप, काव्यलक्षण, नाटक निरूपण, रस निरूपण, रीति निरूपण, नृत्य निरूपण, अभिनय निरूपण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, शब्दार्थालङ्कार, काव्यगुण एवं काव्य–दोष आदि का निरूपण किया गया है। इन बहुविध काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों में से यहाँ केवल नाट्य स्वरूप के अन्तर्गत–नाटक निरूपण, पूर्वरङ्ग, पात्रपरिचय, वस्तु–विधान, अभिनय एवं रस आदि को व्याख्यायित किया गया है। इसीलिए इस ग्रन्थ का नामकरण अग्निपुराण का नाट्य दर्शन सिद्धान्त किया गया है।

वस्तुतः विश्व वाङ्मय में काव्य की दो प्रधान धाराएँ श्रव्य एवं दृश्य काव्य के रूप में स्वीकृत हैं। जिसमें श्रव्य काव्य की परिधि में महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, गद्यकाव्य के अन्तर्गत कथा और आख्यायिका तथा चम्पूकाव्य की परिणना की जाती है। दूसरे काव्य विधा के रूप में दृश्य काव्य को स्वीकार किया जाता है। इसके अन्तर्गत रचना विधान के साथ–साथ अभिनेयता का भी समावेश रहता है जो इस रचना विधा का प्राण है। जब चतुर्विध अभिनयों के माध्यम से अवस्था का अनुकरण होता है तब वह नाट्य रूप को ग्रहण करता है। इसमें समाज की कलाओं जैसे नृत्य, शिल्प, मूर्ति, चित्र, संगीत आदि के सम्मिलन से एक ओर अंगुली व नेत्र की बरौनियों तक अभिनय का अतिसूक्ष्म निरूपण रहता है तो वही दूसरी ओर वाचिक अभिनय में अक्षर एवं उनकी मात्राओं का उच्चारण विधान। सात्त्विक एवं आहार्य अभिनय के प्रयोग में मूर्च्छा एवं वेश–भूषा आदि उपकरणों और सुरूचिपूर्ण व्यावहार योजना से नाट्य स्वर्गीय महनीयता को प्रकट करने लगता है।

नाट्य जीवन के विभिन्न पक्षों पर आधारित होता है। इसलिए वह जीवन के बहुत समीप है। इसका वैशिष्ट्य उसी से व्यक्त हो जाता है जिसके लिए आचार्य भरत कहते हैं–

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत् कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।।

(नाट्यशास्त्र, 1/116)

अर्थात् न ऐसा कोई ज्ञान है, न ऐसा कोई शिल्प है, न ऐसी कोई विद्या है न ऐसा कोई कला है, न ऐसा कोई योग है न ऐसा कोई कर्म

है जो इस नाट्य में दिखाई नही देता है। कहने भाव यह है कि नाट्य में सब कुछ विद्यमान है। ज्ञान और व्यवहार की ऐसी कोई वस्तु नही है जो नाट्य में न प्राप्त होती हो। यह शोक सन्तप्त के लिए धैर्य, पीड़ितों के लिए मनोविनोद और श्रम से थके हुए को कलान्त रहित कर देता है। कहा भी गया है–

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्ति जननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति।।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।

(नाट्यशास्त्र, 1/114–115)

अर्थात् यह नाट्य दुःखी, श्रान्त, शोकार्त आदि लोगों के लिए विश्राम जनक होगा। यह धर्म, यश, आयु, हित एवं बुद्धि को बढ़ाने वाला तथा लोकोपकारी होगा। इस प्रकार नाट्य सम्पूर्ण जीवन जगत् के सुख, समृद्धि की कामना करता है और मानव मात्र के कल्याण का विधान करता है। 'नाट्यशास्त्र' के यदि नाट्यलक्षण पर विचार किया जाय तो वहाँ नाट्य महनीयता का प्रकाशन सहज ही हो जाता है। वहाँ कहा गया है–

देवानामसुराणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम।
ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम्।।
योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःख समन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।।

(नाट्शास्त्र, 1/118–119)

अर्थात् यह नाट्य देवताओं के लिए, असुरों के लिए, राजाओं के लिए, कुटुम्बियों के लिए, ब्रह्मर्षियों के वृतान्त का प्रदर्शक है ऐसा समझना चाहिए। यह जो सम्पूर्ण लोक का सुख–दुःख से युक्त स्वभाव है, वही आङ्गिक आदि अभिनय से सम्मिलित होने पर नाट्य कहलाता है। कहने का भाव यह है है कि सुख–दुःखमय लोक का स्वभाव ही आङ्गिक वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्यमय चतुर्विध अभिनय से युक्त होकर नाट्य रूप धारण करता है। जिससे यह नाट्य त्रीवर्ग सिद्धि का साधन बन जाता है। अग्निपुराण में कहा भी गया है–

त्रिवर्ग साधनं नाट्यमित्याहूः करणं च यत्।

(अग्निपुराण, 338/7)

अर्थात् नाट्क त्रीवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) के प्राप्ति का हेतुभूत साधन है। धर्म, अर्थ और काम ही मानव मात्र के जीवन को सुखी एवं समृद्ध बनाते हैं। इन्हीं से जीवन का राग–रङ्ग प्रारम्भ होता है। इसीलिए अग्निपुराण धर्म, अर्थ, और काम को जीवन का हेतुभूत साधन मानता है। नाट्यशास्त्र में इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है–

धर्मार्थकामसम्बन्धः फल योगस्तु कथ्यते।

इस प्रकार नाट्य पात्रों के केवल रूप की परिदृश्यता का प्रतिपादन नहीं करता अपितु समग्र जीवन की एक अनुपम झांकी भी प्रस्तुत करता है। इसी रूप में 'अग्निपुराण' का नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्त अवतरित होता है। यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिकता से ओत–प्रोत और लोक रञ्जन का एक नियामक सिद्धान्त है। इसके धीरोदात्त, धीरप्रशान्त, धीरललित एवं धीरोद्धत नायक तथा मुग्धा, स्वकीया, परिकीया आदि नायिकाएं व अन्य सभी पात्रों के रङ्गमञ्चीय प्रयोग से मनोविज्ञान और लोक रञ्जन की सहज अभिव्यक्ति होने लगती है। मञ्च पर पात्र सदैव एक दूसरे की भावना को समझकर अभिनय किया करते हैं। उनका एक–एक हाव–भाव नाटकीय समझ को विकसित करने वाला होता है। पात्रों का आपसी सहभाव ही नाट्यधर्म का परिचायक माना जाता है। अग्निपुराण का रस विमर्श इसी रूप में महत्त्वपूर्ण माना जाता है जिसमे ब्रह्मानन्द का स्वरूप प्रतिपादित है–

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्ति सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया।।

(अग्निपुराण, 339/1–2)

अर्थात् वह परब्रह्म परमेश्वर अक्षर है। वह शाश्वत अजन्मा और परिव्याप्त है। वेदान्त ग्रन्थों में उसे अद्वितीय ज्योतिर्मान और सामर्थ्यमान कहा गया है। उसका आनन्द स्वाभाविक है परन्तु उसकी अभिव्यक्ति कभी–कभी होती है। उसकी अभिव्यक्ति का नाम चैतन्य, चमत्कार अथवा रस है। यह रस सिद्धान्त दार्शनिक धरातल पर रस को स्थापित करता है और नाट्यरूप में धर्म, अर्थ, काम के साथ मोक्ष को भी सम्मिलित करने का प्रयास करता है। इसके अनुसार अक्षर अज सनातन अद्वितीय चैतन्यरूप ज्योतिर्मय परमब्रह्म की सहज आनन्द रूप अभिव्यक्ति ही रस है। वेदान्त

में इसी अभिव्यक्ति को चैतन्य कहा गया है जो समाधि की अवस्था में अनुभव की जाती है। इसीलिए कविता में इसकी अनिवार्यता 'अग्निपुराण' स्वीकार करता है–

लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा।

(अग्निपुराण 339/9)

अर्थात् जिस प्रकार विना दान की लक्ष्मी शोभित नही होती है उसी प्रकार कविता भी रसों के बिना शोभित नही होती है। 'अग्निपुराण' का यह रस विषयक चिन्तन निश्चित रूप से परवर्ती आचार्यों के लिए रस विवेचन का नवीन आधार उपस्थित करता है। 'अग्निपुराण' नाट्यविषयक सभी पक्षों के सम्यक् विचार को प्रस्तुत करते हुए उसके दृश्य एवं काल के रूप में भारत को अनुकूल मानता है। उसका मानना है कि भारत भूमि ही नाट्य मर्यादा की पोषिका भूमि है। यहीं नाट्य पुष्पित एवं पल्लवित होने के योग्य है। वहाँ कहा गया है–

देशेषु भारतं वर्षं काले कृतयुगत्रयम्।
नर्ते ताभ्यां प्राणभृतां सुखदुःखोदयः क्वचित्।।

(अग्निपुराण, 338/27)

अर्थात् नाटक के दृश्य तत्त्व सदा भारत के ही होने चाहिए और कालों में सत्युग, त्रेता और द्वापर इन तीन का उल्लेख होना चाहिए। देशकाल के सम्यक् उल्लेख के बिना दर्शकों को सुख और दुःख की अनुभूति ठीक प्रकार से नही करायी जा सकती है। कहने का अभिप्राय है कि जब तक नाट्य लोक से नही जुड़ता तब तक वह सामाजिक के रञ्जन का विषय नहीं बन सकता है, जो लोक में होता है, वही शास्त्र बनता है, वही नाट्य बनता है और नाट्य की विविध मीमांसा इसके दर्शन का सोपान है। भारत की उर्वर भूमि में विकसित नाट्य यहाँ के इतिहास, भूगोल के साथ जुड़कर सामाजिक को रसानुभूति कराने वाला दर्शन है। यही रसानुभूति की प्रक्रिया विकसित करता है। नाट्य दर्शन सामाजिक के व्यवहार जगत् से सम्बन्धित होकर ही रसोद्रेक करता है। किसी देश की संस्कृति उसकी पहचान होती है। उसकी रञ्जन की विभिन्न शाखायें उसे अत्यधिक समृद्ध बनाती हैं। फलतः भारत की संस्कृति का जुड़ाव भी और गहरा होता चला जाता है। इन्ही सभी उपागमों के साथ अग्निपुराण का नाट्यदर्शन व्यापक एवं विलक्षण हो जाता है। इस प्रकार हम देखते

हैं कि अग्निपुराण नाट्यदर्शन के महनीय अभिधानों को अपने साथ लेकर साहित्य जगत् में पदार्पण करता है और एक प्रतिमान को स्थापित करता है।

यह ग्रन्थ सात अध्यायों में अपने असाधारण नाट्य विषय को प्रस्तुत करता है। इसमें अग्निपुराण के नाट्यदर्शन सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप में वर्णन करने का प्रयास किया गया है। यहाँ प्रथम अध्याय के रूप में पुराण साहित्य का वैशिष्ट्य एवं अग्निपुराण के महत्त्व को बतलाते हुए उसके प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट किया गया है। द्वितीय अध्याय में अग्निपुराण के अनुसार नाट्य भेद–उपभेद को उपस्थित किया है। जिसमें सत्तइस प्रकार के नाटकों की विधिवत व्याख्या की गयी है। इस ग्रन्थ का तृतीय अध्याय पूर्वरङ्ग से सम्बन्धित है। यहाँ पूर्वरङ्ग, प्रस्तावना, नान्दीपाठ इत्यादि को विधिवत प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ का चतुर्थ अध्याय वस्तु–विधान से सम्बन्धित है, जिसमें अग्निपुराणोक्त इतिवृत्त को विशेष रूप से प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय में अर्थप्रकृति, कार्यवस्था एवं पञ्च सन्धियों का भी विशेष रूप से वर्णन किया गया है। पञ्चम अध्याय इस ग्रन्थ का पात्र परिचय से सम्बन्धित हैं। जो नायक, नायिका एवं अन्य सभी पात्रों की विशेषता से मण्डित नाटकीय पात्रों की महनीयता को प्रकट करता है। षष्ठ अध्याय अभिनय एवं वृत्ति–विचार को प्रकाशित करता है। इसमें नाट्य सिद्धान्त के विशेष तत्त्व चतुर्विध अभिनयों को उद्घाटित करते हुए वृत्ति के स्वरूप को भी स्पष्ट किया गया है। सप्तम अध्याय रस विवेचन से सम्बन्धित है। जिसमें अग्निपुराण के दार्शनिक विचारधारा के रूप में रस को परिभाषित किया गया है तथा साथ ही साथ रस को नाट्य की आत्मा के रूप प्रतिष्ठित भी किया गया है और अन्त में सम्पूर्ण ग्रन्थ का सारांश प्रस्तुत है।

'अग्निपुराण' को काव्यशास्त्र के रूप में गौरव ग्रन्थ माना जाता है। इसलिए इसके नाट्यशास्त्रीय पक्ष को विशेष रूप से प्रकाशित करने के उद्देश्य से मैने इस पर कार्य करना प्रारम्भ किया और जो भगवत् कृपा से पूर्ण भी हुआ। अतः मैं ईश्वर को इस कार्य के प्रति निमित्त, मानते हुए उनके चरणों में अपनी विनम्र प्रार्थना अर्पित करता हूँ। इस कार्य को पूर्ण करने तथा अपने अमूल्य सुझाव के लिए सदैव तत्पर रहने वाले आचार्य प्रो. मान सिंह, प्रो. सत्यदेव कौशिक, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रो. अभिराज

राजेन्द्र मिश्र, प्रो. पर्णदत्त सिंह, प्रो. आनन्द कुमार श्रीवास्तव, प्रो. शुकदेव भोई, डॉ. गोपाल लाल मीणा, प्रो. उमेश प्रसाद सिंह, प्रो. उमाकान्त यादव, प्रो. रामसुमेर यादव, डॉ. शिवशंकर सिंह यादव, डॉ. झिनकू यादव, प्रो. कुसुम भूरिया दत्ता, प्रो. रामकान्त पाण्डेय आदि सदैव मुझे अपने ज्ञान से सिंचित कर मेरा मार्गदर्शन करते रहे हैं। आप सभी मेरे वन्दनीय हैं। आप लागों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना तो मात्र औपचारिकता है।

इस ग्रन्थ के प्रति विशेष उत्साह वर्धन करने वाले डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर म.प्र. के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी तथा अन्य विभागीय आचार्य डॉ. नौनिहाल गौतम, डॉ. रामहेत गौतम, डॉ. शशिकुमार सिंह एवं डॉ. किरण आर्या जी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। आप सभी इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए मुझे प्रेरित करते रहे हैं। अतः मैं आप सबका कृतज्ञ हूँ।

इस ग्रन्थ की मांगलिक समापनबेला में प्रातः स्मरणीय पूज्य पिता श्री शंकर सिंह यादव एवं वन्दनीय माता श्रीमती सुदामी सिंह यादव, पितृभ्य डॉ. महेश सिंह यादव, डॉ. रमेश सिंह यादव, अग्रज श्री हीरालाल सिंह यादव, श्री हरिकेश सिंह यादव, एवं श्वशुर डॉ. मिश्रीलाल यादव का निरन्तर सहयोग, प्रोत्साहन एवं सहानुभूति प्राप्त होती रही। आप लोगों का स्नेहसिक्त आर्शीवाद ही मेरा पाथेय है। अतः मैं आप सभी का विशेष रूप से ऋणी हूँ।

मेरे अग्रज कल्प डॉ. बालेश्वर प्रसाद यादव डॉ. महेन्द्र यादव एवं मित्र डॉ. कन्हैया त्रिपाठी, डॉ. धर्मेन्द्र कुमार सर्राफ, डॉ. बुध सिंह, डॉ. अभिषेक प्रजापति, डॉ. रामरतन पाण्डेय, डॉ. ऋषभ भारद्वाज, डॉ. जनार्दन तथा डॉ. विवेकानन्द उपाध्याय का विशेष रूप से आभारी हूँ। जिनकी प्रेरणा–शक्ति से सम्पन्न होकर इस महनीन कार्य को पूर्ण कर सका। इस अवसर पर मैं अपने सुपुत्र को भी विशेष रूप से स्मरण करता हूँ जिसकी मधुर मुस्कान एवं मुखसुख वाणी से क्लान्त मन सद्यः आनन्द विभोर होकर कार्य में संलग्न हो जाता था। उसे विशेष रूप से मैं अपना आशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशक 'सत्यम पब्लिशिंग हाऊस' नई दिल्ली, के सञ्चालक श्री आर.डी. पाण्डेय जी का भी विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने बड़े मनोयोग पूर्वक इसका स्वरूप आकर्षक बनाया। मैंने यथाशक्ति ग्रन्थ

के प्रतिपाद्य विषय और विवेचन में अन्विति बनाये रखने का प्रयत्न किया है और अपने निष्पक्ष दृष्टिकोण के प्रति सजग रहा हूँ फिर भी त्रुटियाँ हो सकती हैं। उसके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ। अस्तु यह ग्रन्थ सुधी पाठकों के लिए उपस्थित है–

विष्णु कालाग्निरुद्रोऽहं विद्यासारं वदामि ते।
ब्रह्माग्नेयं पुराणं यत्सर्वं सर्वस्य कारणम्।।

(अग्निपुराण, 1/13)

श्रीरामनवमी, **सञ्जय कुमार**

05–04–2017

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

प्रथम अध्याय

अग्निपुराण–परिचय

पुराण भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है। जीव एवं जगत् से ओत–प्रोत ज्ञान का प्रकाशन ही इसका मूलोद्देश्य रहा है। वेदों के पश्चात् ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों में जो सांसारिक जिज्ञासा, चिन्तन, मनन और स्वानुभूति की प्रक्रिया विकसित हुई, उसी का सुव्यवस्थित एवं व्यावहारिक स्वरूप पुराणों में दृष्टिगोचर होता है। पुराण वे महासागर हैं जिससे ज्ञान की अनेक धाराएँ निकल कर सम्पूर्ण वसुधा तल पर मानव मात्र के लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय के लिए प्रवाहित होती हैं। यहाँ ऋषियों की वाणी में उदात्त जीवन दृष्टि का समुज्ज्वल रूप विकसित हुआ है। ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में उदीयमान वेद, दर्शन, आर्युवेद, विज्ञान, काव्यशास्त्र, समाजशास्त्र आदि के सैद्धान्तिक पक्षों का जो समाधान पुराणों में मिलता है वह विश्व साहित्य के लिए दुर्लभ है। इसीलिए हमारे आर्ष मनीषी ऋषियों का शंखनाद है कि कोई द्विज चारों वेदों तथा उनके अंगों सहित उपनिषदों के अर्थ को भली–भांति समझता हैं लेकिन यदि वह पुराण को नही जानता है तो उसे विचक्षण–चतुर तथा शास्त्र कुशल नही माना जा सकता है। ज्ञान की कसौटी पुराणाध्ययन में ही विराजती है। वेद निःसन्देह हमारे गौरव ग्रन्थ हैं परन्तु वेद का उपबृंहण करने वाला पुराण ही है। स्वयं वेदव्यास ही कहते हैं–

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।[1]

अर्थात् इतिहास और पुराण से वेद के अर्थ का स्पष्टीकरण करें क्योंकि अल्प विद्या पढ़े हुए मनुष्य से वेद को यह भय लगता है कि वह

मनुष्य मुझे बिगाड़ न दे। पुराण की महनीयता का सूचक 'याज्ञवल्क्यस्मृति' का वह वाक्य है जिसमें विद्याओं की गणना में पुराणविद्या को प्रथम स्थान दिया गया है–

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।[2]

अर्थात् अष्टादश पुराण, न्याय–तर्क–विद्या, मीमांसा–वेदवाक्य विचार, मन्वादि प्रणीत धर्मशास्त्र अंग सहित चारो वेद–ये चौदह विद्याएँ धर्म के ज्ञान में कारण हैं। ध्यातव्य है कि चौदह विद्याओं में प्रथम स्थान पर पुराण विद्या है, अतः इसके महत्त्व का अनुमान स्वतः सिद्ध हो जाता है। हमारे शास्त्रों में उपदेश के त्रिविध प्रकार बताये जाते हैं–प्रभुसम्मित, सुहृत् सम्मित और कान्तासम्मित। यह सुहृत् सम्मित ही पुराण सम्मित है। यह उपदेश शैली प्रभुसम्मित वेदशास्त्रादि और कान्तसम्मित रसप्रधान उपदेश शैली न होकर केवल अर्थमय अभिप्राय के अनुसरण पर बल देती है। मित्र अपने मित्र को उचित कार्य का अनुष्ठान करने तथा अनुचित कार्य का परित्याग करने का उपदेश देता है। उसका तात्पर्य अर्थ में होता है। इसलिए अर्थ में तात्पर्य रखने वाली इस दूसरी विद्या को सुहृत् सम्मित शैली कहा जाता है। इतिहास, पुराण आदि ही इस शैली के जनक माने जाते हैं। अतः पुराण मित्र के समान उपदेशक उपदेश देने वाले एक ग्रन्थ विशेष का नाम है। फलतः मत्स्यपुराण पुराण विद्या को सभी शास्त्रों में अग्रणय मानता है–

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।।[3]

अर्थात् पुराण सम्पूर्ण विद्याओं का कोश है, इसमें संसार की समस्त विद्याएं समाहित हैं इसीलिए ऋषियों, मनीषियों के द्वारा इसे प्रथम स्थान प्राप्त है। पुराण को विश्वकोश की संज्ञा देते हुए पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय अपने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं कि प्राचीन भारत का ज्ञान और विज्ञान पशु तथा पक्षी–विज्ञान वनस्पति तथा आयुर्वेद सब एकत्र कर पुराणों में भर दिया गया है। इसका परिणाम यह है कि पुराण विश्व विद्या का कोष है।[4] अग्निपुराण में इसके लक्षण के सम्बन्ध में कहा गया हैं–

सर्गस्य प्रतिसर्गस्य वंशमन्वन्तरस्य च।
वंशानुचरितादेश्च मत्स्यकूर्मादिरुपधृक्।।[5]

अर्थात् इस पुराण में सर्ग (ईश्वर कृत सृष्टि) प्रतिसर्ग (कार्य सृष्टि और लय) वंश (देवताओं और पितरों की वंशावली) मन्वन्तर (किस मनु का कब तक अधिकार रहता है) तथा वंशानुचरित (सूर्य–चन्द्र प्रभृति राजवंशो में उत्पन्न होने वाने राजाओं का संक्षिप्त वर्णन) और मत्स्य तथा कूर्म आदि रूपों को धारण करने वाले भगवान् विष्णु का वर्णन है। पुराण विषयक यह श्लोक प्रायः सभी पुराणों में उपलब्ध होता है।[6] पुराण के इस पंचलक्षण के अतिरिक्त पुराणों के दशलक्षण भी स्वीकार किये जाते हैं। ये दशपुराण के विशेष लक्षण माने जाते हैं। 'श्रीमद्‌भागवतपुराण' के द्वादश स्कन्ध के अनुसार ये दश विशेष लक्षण हैं–

सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्ति रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः।।[7]

अर्थात् सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, अन्तराणि, वंश, वंशानुचरितम्, संस्था, हेतु और अपाश्रय। ये पुराण के विशेष दश लक्षण हैं। पुराणों में प्रतिपादित विषयों का परिचय पंच एवं दश लक्षणों से मिल जाता है। इसके अतिरिक्त स्वर्ग, नरक, अनुष्ठान, व्रत, धर्मशास्त्र के नियम व प्रायश्चित, भूगोल, तीर्थस्थान, लोकाचार, विभिन्नशास्त्र–आयुर्वेद, गान्धर्ववेद, धनुर्वेद, काव्यशास्त्र आदि विषयों का गहन विवेचन भी पुराणों में प्रतिपादित है।

पुराणों की संख्या

पुराणों की संख्या निर्विवाद रूप से निश्चित है। इनकी संख्या अट्‌ठारह है। यथा–ब्रह्मपुराण, पद्‌मपुराण, विष्णुपुराण, वायुपुराण, श्रीमद्‌भागवतपुराण, नारदपुराण, अग्निपुराण, मार्कण्डयपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, लिंगपुराण, वाराहपुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरूड़पुराण और ब्रह्मण्डपुराण इन पुराणों को महापुराण की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। उपर्युक्त महापुराणों के अतिरिक्त अट्‌ठारह उपपुराण भी प्राप्त होते हैं, जिनका उल्लेख गरूड़पुराण में मिलता है–सनतकुमार, नादसिंह, स्कन्द, शिवधर्म, आश्चर्य, नारदीय, कापिल, वामन औशनस ब्रह्मण्ड, वारुण, कालिका, माहेश्वर, साम्ब, सौर, पाराशर, मारीच और भार्गव। अन्योल्लेखों में चण्डीपुराण, मानवपुराण, गणेशपुराण, नन्दपुराण, देवीभागवतपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, दुर्वासापुराण, माहेश्वरपुराण, भार्गवपुराण, कल्किपुराण आदि का भी उपपुराणों के रूप में गणना की जाती है। उपपुराणों में

सर्वाधिक प्रचलित पुराण 'शिवपुराण' है। इसमें सात खण्ड तथा 24,000 श्लोक हैं। शिव की उपासना, शैवधर्म तथा दर्शन और शिवविषयक कथाओं का यह प्रामाणिक और विस्तृत संग्रह है। दूसरा अत्यधिक प्रचलित उपपुराण 'देवीभागवतपुराण' है। यह पुराण शाक्त पुराण है। जिसमें देवी या शक्ति की पूजा, उनके अवतारों और तद्विषयक कथाओं का विपुल संग्रह प्राप्त होता है। उपपुराणों में ही 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' का भी विशेष महत्त्व है। इनमें नृत्य, गीत, वाद्य, वास्तु, मूर्ति, चित्र, नाट्य एवं काव्यशास्त्र आदि विषयो के साथ–साथ तीर्थ, अवतार, इत्यादि पौराणिक विषयों का प्रतिपादन मिलता है। 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' के तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड जिसमें 269 अध्याय हैं। इसका मूल विषय पौराणिक विषय है। द्वितीय खण्ड में 183 अध्याय है। इसमें मुख्य रूप से राजधर्म–विषयक सामग्री का सारगर्भित विवेचन है और तृतीय खण्ड में 355 अध्याय हैं, जो विविध विद्याओं का आनन्द निकेतन के समान है। 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' के प्रारंभ के 35 अध्यायों का नाट्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। रूपक, उपरूपक, नायक–नायिका, रस, अभिनय, संगीत आदि विषयो के सम्यक् प्रतिपादन से 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' नाट्यशास्त्री ग्रन्थों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

अग्निपुराण

अष्टादश पुराणों में 'अग्निपुराण' का अत्यधिक महत्त्व है। अग्नि नामक देव इस पुराण के वक्ता हैं। इसलिए यह अग्नि नाम से अभिहित होता है। अग्निपुराण के 383 अध्यायों में नाना प्रकार के विषयों का विविध विवेचन है। आनन्दाश्रम संस्करण के अनुसार इसमें लगभग 11457 श्लोक हैं।[8] इसके सम्बन्ध में मत्स्यपुराण में कहा गया है कि जिस पुराण में अग्नि ने वशिष्ठ को 'ईशाकल्प का वृत्तान्त कहा है वह आग्नेयपुराण है।[9] स्कन्दपुराण के प्रभास खण्ड[10] तथा नारदीय पुराण[11] का भी यही मत है। प्रचलित अग्निपुराण का वक्ता यद्यपि अग्नि हैं, तथापि इसमें ईशानकल्प का नाम नही मिलता है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कोई प्राचीनतर ईशानकल्पीय वृत्तान्तख्यापक अग्निपुराण था, जो लुप्त हो गया है और प्रचलित अग्निपुराण उसी पुराण के आश्रय में लिखा गया है जो आज अपने विषय विवेचन के कारण उसी रूप में मान्य है। यह अग्निपुराण जो मूलतः

अग्नि–वशिष्ठ संवाद में है। यह स्वयं को विद्या का सार सम्बोधित करते हुए कहता है–

द्विविधं ब्रह्म वक्ष्यामि शृणु व्यासाखिलात्मगम्।
यथाग्निर्मा पुरा प्राह मुनिभिर्दैवतैः सह।।
पुराणं परमाग्नेयं ब्रह्मविद्याक्षरं परम्।
ऋग्वेदाद्यपरं ब्रह्म सर्वदेवसुखं परम्।।
अग्निनोक्तं पुराणं यदाग्नेयं वेदसम्मितम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदं पुण्यं पठतां शृण्वतां नृणाम्।।
कालाग्निरुपिणं विष्णुं ज्योतिर्ब्रह्म परात्परम्।
मुनिभिः पृष्टवान् देवं पूजितं ज्ञानकर्मभिः।।[12]

अर्थात् हे व्यास सुनो! निखिल चराचर में व्याप्त रहने वाले द्विविध ब्रह्म के विषय में प्राचीनकाल में अग्निदेव ने मुनियों और देवताओं के साथ मुझसे जैसा कहा गया, उसे मैं कहूगाँ। 'अग्नुिपराण' ब्रह्मविद्या, अक्षर, परमतत्व ऋग्वेदादि से अतिरिक्त परन्तु उनसे समस्त और सब देवताओं का सुख देने वाला परम उत्कृष्ट ब्रह्म है। इस वेदसम्मत पुराण को अग्निदेव ने कहा है। इसीलिए उसका नाम अग्निपुराण पड़ गया है। इसके पढ़ने और सुनने वालो को यह पुराण इस संसार में योग और मोक्ष प्राप्त कराता है। मैंने भगवान् कालाग्नि से पूछा था जो ज्ञान कर्म में लगे हुए मुनियों से पूजित, परात्पर ब्रह्म, ज्योतिरूप और विष्णुरूप हैं। अग्निपुराण के इस कथन से स्पष्ट है कि 'अग्निपुराण' वैदिक सनातन परंपरा से प्राप्त ज्ञान का ही विविध रूप से प्रतिपादन करने वाला पुराण है। प्रायः सभी पुराण वैदिकी ज्ञान परम्परा को ही सुहृद शैली में प्रस्तुत करते हैं इसी लिए इन्हे पंचम वेद की संज्ञा से भी विभूषित किया जाता है।

'अग्निपुराण' को समस्त भारतीय विद्याओं का विश्वकोश कहा जाता है। इसमें ज्योतिषशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्रत, राजनीति, आयुर्वेद, नाट्यशास्त्र आदि का वर्णन बड़े विस्तार के साथ मिलता है। छन्दशास्त्र की व्याख्या आठ अध्यायों में की गयी है। अलंकार एवं नाट्यशास्त्र का विवेचन बड़े ही सहज रूप से यहाँ प्राप्त होता है। व्याकरण के नियम–प्रयोग को भी आचार्य के द्वारा बहुत ही सावधानीपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। योगशास्त्र के रूप में अष्टांगयोग को विशेषतः पारिभाषित किया गया है और अन्त में अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों का सार संकलन है, जो अग्निपुराण के उत्कर्ष को

चरम सीमा तक पहुँचा देता है।

अग्निपुराण के अध्याय 337 से 347 तक के इन ग्यारह अध्यायों में काव्यादि लक्षण, नाटकादि लक्षण, रसनिरुपण, रीतिनिरूपण, नृत्यादिगत अंगकर्म, अभिनयादि, शब्दालंकार, अर्थालंकार, शब्दार्थालंकार, काव्यगुण तथा काव्यदोष का बहुत ही सारगर्भित निरूपण है। अग्निपुराण का यह काव्यशास्त्रीय एवं नाट्यशास्त्रीय विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। महामहोपाध्याय पी.वी. काणे अपने 'संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में अग्निपुराण के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "अग्निपुराण के 11500 श्लोकों में वर्णित विषयों का संक्षिप्त विवरण भी यहाँ स्थान संकोच के कारण शक्य नही है। मध्यकालीन भारत में जो विषय सर्वसाधारण में रूचिकर थे। अग्निपुराण उनका विश्वकोश हैं।"[13] काणे के इस कथन से ज्ञात होता है कि अग्निपुराण के सभी शास्त्रीय विषय जन–सामान्य के लिए ज्ञान का एक मात्र साधन हैं। सम्भवतः इसी कारण से 'अग्निपुराण' के शास्त्रीय पक्ष का उद्‌घाटन सभी शास्त्रज्ञों द्वारा किया जाता रहा है। अग्निपुराण के नाट्यशास्त्रीय पक्ष का उल्लेख करते हुए डॉ. पारसनाथ द्विवेदी 'नाट्यशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में लिखते हैं कि 'अग्निपुराण में काव्यालंकारशास्त्र के पश्चात् नाट्यशास्त्र का भी विवेचन किया गया है। भरतमुनि के पश्चात् अग्निपुराण में नाट्य चर्चा है।'[14] डॉ. श्रीनिवास शास्त्री अपने सम्पादित ग्रन्थ काव्यप्रकाश के विषय प्रवेश में अग्निपुराण के सम्बन्ध में लिखते हैं कि–"अग्निपुराण एक विश्वकोष है। इसमें ऐसे अनेक विषयों को विवेचन है, जिनमें मध्यकालीन भारत के लोग रूचि रखते थे। इसमें कुछ साहित्यक विषयों को विवेचन किया गया है। इसके कतिपय अध्यायों में काव्यशास्त्र विषयक विवेचन भी है।"[3] अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय महत्व को व्यक्त करते हुए डॉ. गोपाल लाल मीणा लिखते हैं–'पौराणिक साहित्य में अग्निपुराण काव्य एवं नाट्य के सन्दर्भ में पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करता है। अग्निपुराण पहला प्राचीनतम ग्रन्थ है, जिसमें लक्षण ग्रन्थ के अनुरूप नाट्य अंगों की विवेचना हुई है जो कुछ अंशों में भरत से भिन्न है तो कुछ अंशों में अभिन्न।[15] डॉ. मीणा स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि अग्निपुराण केवल नाट्यशास्त्रीय नाट्य सिद्धान्तों का अनुमोदन नही करता बल्कि कुछ स्थलों पर नाट्य प्रयोगों की अपनी व्याख्या भी करता है। प्रो. अमरनाथ पाण्डेय लिखते हैं कि 'अग्निपुराण में 383 अध्याय हैं। इसमें 337

अध्याय से 347 अध्याय तक साहित्य शास्त्र के विषयों का वर्णन है।'[16] महामहोपाध्याय आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि 'अग्निपुराण के 338वें अध्याय में निरूपण किया नाटक। नाटकों में भी दश प्रकार के प्रसिद्ध रूपकों का उन्ही के साथ प्रतिपादन किया गया त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य श्रीगदित, नाट्यरासक, रासक उल्लाप्यक तथा प्रेक्षण इन 26 रूपकों। पुरी संख्या बतलाई 27। एक किसी भेद को कर्णा कहा है।'[17]

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'अग्निपुराण' संस्कृत काव्यशास्त्र परंपरा में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। सभी आचार्य काव्यशास्त्र के रूप में प्रथम स्थान पर ही इसका परिगणन करते हैं, जिससे इसकी महत्ता स्वयं सिद्ध हो जाती है। वस्तुतः शास्त्रों को प्रामाणिक तभी माना जाता है जब उसका मूल उत्सभूमि आगम हो। साहित्य या साहित्यशास्त्र का भी आगम स्वरूप होता है। अग्निपुराण में उसी दृष्टि से अहंकारागम का उल्लेख किया है।[18] जिसका साहित्य विद्या के रूप में व्याख्या करते हुए आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं–"इन सभी अध्यायों में जो आगम है उसे अग्निपुराण के 382वें अध्याय के श्लोक 61 में अहंकार शब्द से पुकारा है। अर्थात् साहित्य विद्या का आगमिक नाम है–अहंकारा–गम या अहंकार विद्या।"[19] अतः आगम ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत होने के कारण अग्निपुराण की प्रथम स्थान पर गणना की जाती है। पारंपारिक सिद्धांत या उपदेश धर्मग्रन्थ आदि आगम के अंतर्गत आते हैं। वैदिक युग से ही ज्ञान की दो धाराओं का उल्लेख मिलता है–एक वेदधारा (निगम) और दूसरी पुराण धारा (आगम) वेदधारा आरंभ से ही धार्मिक है तथा यज्ञों में विशिष्ट देवता को उद्दिष्ट कर हविर्त्याग की विधि को वह महत्त्व देती है। पुराणधारा का लक्ष्य लोकवृत्त का अनुशीलन तथा समीक्षण कर विपुल विवरण देना है। पुराण सदैव लोक जीवन के समीप स्थित होकर उपदेश देता है, जो ज्ञान लोक हित के लिए उपादेय रहता है वही शास्त्र बनने का अधिकारी माना जाता है। अतः पुराण लौकिक शास्त्र है, यह वेद से भिन्न परन्तु तदनुकूल शास्त्र माना जाता है। वेद के समान पुराण का स्वरूप सदैव के लिए निश्चित नही किया गया है, इसमें समय–समय पर परिवर्तन किया जाता रहा है। इसीलिए 'तन्त्रवार्तिक' में वेद अकृत्रिम और पुराण को कृत्रिम कहा गया है।[20] निरूक्तकार के द्वारा पुराण शब्द की दी गयी व्युत्पित्ति–'पुरापि

नवं भवति' का आशय भी यही सिद्ध करता है। पुराण को वेद का उपबृंहण भी कहा जाता है। इस प्रकार पुराण निगम के अति सन्निकट है। जहाँ काव्य शास्त्र की बात आती है वहाँ 'अग्निपुराण' को प्रथम स्थान पर रखा जाता है क्योंकि यह वेद के काव्य स्वरूप को ही परिर्वतन के साथ प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। 'अथर्ववेद' में वेदों को देव का अमर काव्य भी कहा गया है–

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।[21]

इस वैदिक वचन में देव के काव्य के रूप में वेद का ही निर्देश किया गया है। वेद के निर्माता परमात्मा के लिए वेदों की अनेक स्थल पर कवि शब्द का प्रयोग मिलता है। अतः वेद स्वयं काव्यस्वरूप है। उसमें काव्य सौन्दर्य के सभी नियामक धर्म पाये जाते हैं। वेदों के उपबृंहण ग्रन्थ पुराण हैं इसलिए अग्निपुराण में स्वाभाविक रूप से गुण, रीति, अलंकार, काव्य, महाकाव्य, नाटक, रस, अभिनय, वृत्ति आदि का सम्यक् विवेचन मिलता है।

रचना–काल

भारतीय वाङ्मय की महत्त्व धरोहर पुराण हैं। इनका काल निर्धारण बहुत ही जटिल है। 'अग्निपुराण' भी इस समस्या से अलग नही है। भिन्न–भिन्न विद्वान् अपने–अपने दृष्टिकोण से इसका काल निर्धारण किये हैं। सामान्यतः 'अग्निपुराण' के रचना काल के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि चूँकि बल्लालसेन (ईसवीय 12वीं शती का मध्य) को प्रचलित 'अग्निपुराण' का ज्ञान था अतः यह पुराण उनसे कई शताब्दियों से पहले प्रणीत रहा होगा और उसकी लोकप्रियता भी जन समान्य तक पहुँच चुकी थी। महामहोपाध्याय पी.वी. काणे कहते हैं कि–'अग्निपुराण सातवीं शताब्दी से पहले का नही है और उसका अलंकार साहित्य वाला भाग नवीं शताब्दी से पहले नहीं रचा गया। विशेष संभावना यही है कि उसकी रचना दसवीं शताब्दी में हुई हो।'[22] डॉ. सुशील कुमार अग्निपुराण के रचनाकाल के सम्बन्ध में कहते हैं–'अपारे काव्य संसारे' तथा श्रृंगारी चेत्त कविः' ये दो पद्य अग्निपुराण के 338/10–11 और आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक (पृ. 222) में मिलते हैं। 9वीं शती के मध्य भाग में हुए हैं क्योंकि अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन को स्पष्ट रूप में इनमें से एक पद्य (श्रृंगारी चेत्कविः) का लेखक माना है, इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि 'अग्निपुराण' में यह पद्य

ध्वन्यालोक से लिया गया है।'[23] इस प्रकार अग्निपुराण नवीं शताब्दी के बाद की रचना सिद्ध हुई। डॉ. राजेन्द्र लाल मिश्र का मानना है कि अग्निपुराण मुस्लिम आक्रमण के पूर्व तथा तान्त्रिक पूजा–प्रणाली के प्रचलन के बाद ही कभी लिखा गया होगा। एम.एन. दत्त अग्निपुराण के निश्चित समय–निर्धारण की समस्या में न पड़कर केवल इतना लिखते हैं कि यह कहना कठिन है कि यह विश्वकोश कब लिखा गया, किन्तु यह तथ्य निर्विवाद सत्य है कि यह रचना मुसलमानों के आक्रमण से बहुत पहले की गई है।[24] अतः इन विद्वानो के कथनानुसार अग्निपुराण बारहवीं शताब्दी के पूर्व और नवीं शताब्दी के बाद की अर्थात् दशवी शताब्दी आस–पास की रचना सिद्ध होती है, क्योंकि बारहवीं शती के मध्य का वल्लालसेन अग्निपुराण से पूर्ण परिचित था और उसके कालखण्ड में अग्निपुराण की लोकप्रियता जन सामान्य तक थी तो उसके लोकप्रिय होने में दो सो वर्ष से अधिक का ही समय लगा होगा। अतः 'अग्निपुराण' दसवीं शताब्दी के आस–पास लिखा गया होगा।

पुराणों के सम्बन्ध में एक विषय सर्वथा ज्ञातव्य है कि 'अग्निपुराण' दशम शताब्दी के पूर्व या पश्चात् की रचना होने पर भी इसके सभी श्लोक उसी समय के रचित हो ऐसा नहीं है। पुराण रचना काल का अर्थ है–पुराण के अन्तिम सम्पादनकाल। सम्पादित सामग्री सम्पादन–काल की ही है ऐसी बात भी नही है। इसमें अणुमात्र संशय नही है कि अग्निपुराण के अनेक प्रकरण प्राचीन–प्राचीनतर ग्रन्थों के आधार पर देशकाल– सम्प्रदायनुसार अल्प या अधिक परिवर्तन के साथ लिखे गये हैं। विद्वानों का मानना है कि इस पुराण का तान्त्रिक कर्म–प्रतिपादक अंश अपेक्षाकृत अर्वाचीन है।

अग्निपुराण पर प्राचीन आचार्यों का प्रभाव

अग्निपुराण में विविध विषयों की विवेचना के सन्दर्भ प्राचीनकाल से ही अनेक आचार्यों के ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। यहाँ गजशास्त्र, अश्वविद्या, आयुर्वेद और छन्दशास्त्र के साथ–साथ काव्य एवं नाट्य सन्दर्भों के प्राचीन उल्लेख का प्रमाण मिलता है। अमरकोश, कामसूत्र आदि ग्रन्थ भी इससे अछूते नही हैं। इसीलिए मुख्य रूप से 'आचार्यभरत', 'आचार्यभामह' और 'आचार्यदण्डी' के कृतियों के सन्दर्भ अग्निपुराण में द्रष्टव्य हैं। यथा नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण–

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्।।

नाट्यशास्त्र, 6/37

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति।।

अग्निपुराण, 339/12

शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः।।

नाट्यशास्त्र 6/40

शृंगाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः।
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद् वीभत्साद्भयानकः।।
शृंगारहास्यकरूणा रौद्रवीरभयानका।।

अग्निपुराण 339/7–8

नटी विदूषका वाऽपि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण संहिताः संलापः यत्तु कुर्वते।।
चित्रैवाक्यैः स्वकार्योत्थैवीथ्यङ्गैरन्यथापि वा।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनापि वा।।

नाट्यशास्त्र 22/28–29

नटी विदूषको वाऽपि पारिपार्श्वक एव च।।
सहिताः सूत्रधारेण संलापं यत्र कुर्वते।
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थे प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुख्यं तत्तु विज्ञेयं वुधैः प्रस्तावनाऽपि सा।।

अग्निपुराण338/11–13

आचार्यभामह और अग्निपुराण

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः।।

काव्यालंकार 2/21

उपमानेन यत्र्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः।।

अग्निपुराण, 344/22

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति द्विविधं यथा।

काव्यालंकार, 2/68

शब्देनार्थेन यत्रार्थः कृत्त्वा स्वयमुपार्जनम्।
प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषोऽभिधित्सया।
तमाक्षेपं ....।

अग्निपुराण, 345/15–16

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैवं कथ्यते यथा।।

काव्यालंकार, 3/29

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।।

अग्निपुराण 345/16

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।

काव्यालंकार, 3/8

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।

अग्निपुराण 345/18

यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा।।

काव्यालंकार, 2/79

यत्रोक्तं गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः।।

अग्निपुराण, 345/17

आचार्य दण्डी और अग्निपुराण

इतिहासकथोद्‌भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।

काव्यादर्श, 1/15

इतिहासकथोद्‌भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।

अग्निपुराण, 337/25

उद्यान सलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः। *काव्यादर्श 1/16*
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः।

अग्निपुराण, 337/30

उपमैव तिरोभूतभेदा रुपकमुच्यते।

काव्यादर्श, 2/66

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमेव वा

अग्निपुराण, 344/23

अन्यथैवं स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा।
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा।।

काव्यादर्श, 2/221

अन्यथोपस्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य च।
अन्यथा मन्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते।।

अग्निपुराण, 344/24–25

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा।

काव्यादर्श, 1/93

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिह स्मृतः।

अग्निपुराण, 345/13

अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थदर्शनम्।

काव्यादर्श, 2/304

अन्य संस्करण में 'सूचनम्' भी मिलता है।

अपह्नुतिरपह्नुत्य किं चिदन्यार्थसूचनम्।

अग्निपुराण, 345/18

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।

काव्यादर्श, 2/1

काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते।।

अग्निपुराण, 342/17

गुणजातिक्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते।।

काव्यादर्श, 2/323

गुणजातिक्रियादीनं यत्त वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरुच्यते।।

अग्निपुराण, 344/26–27

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।

काव्यादर्श, 1/11

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।

अग्निपुराण, 337/21

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किंचित्कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना।।

काव्यादर्श, 2/199

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किंचित्कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना।।

अग्निपुराण, 344/27–28

सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम्।

काव्यादर्श, 1/12

सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गभीरं काव्यसागरम्।

अग्निपुराण, 337/23

शरीरं तादिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।

काव्यादर्श, 1/10

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली

अग्निपुराण, 337/6

इसी आधार पर भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वान् 'अग्निपुराण' को काव्यादर्श का ऋणी मानते हैं। इसी रूप में 'ध्वन्यालोक' से भी 'अग्निपुराण' प्रभावित प्रतीत होता है और एक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित होता है। जिसके कारण आचार्य विश्वनाथ आदि अपने लक्षण ग्रन्थों 'अग्निपुराण' का नामोल्लेख किये हैं। आचार्य विश्वनाथ अपने 'साहित्यदर्पण' में 'अग्निपुराण' का सम्मान जनक रूप में उल्लेख करते हुए कहते हैं–

काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणेऽप्युक्तम्।
नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सदुर्लभा।।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदर्लभा।।[25]

आचार्य विश्वनाथ द्वारा अग्निपुराण के उल्लेख करने पर काणे महोदय कहते हैं–'विश्वनाथ ही सर्वप्रथम सम्मानित साहित्यिक हैं जिन्होंने अग्निपुराण को काव्य सिद्धान्त पर प्रमाण के रूप में उदधृत किया है।'[26] जिससे स्पष्ट होता है कि आचार्य विश्वनाथ के समय तक अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय

या नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्त की चर्चा साहित्य जगत् में होने लगी थी।

अग्निपुराण के प्रतिपाद्य विषय

'अग्निपुराण' को विविध विद्याओं का कोश माना जाता है इसलिए इसमें प्रतिपादित विषयों पर विचार करना अति आवश्यक है। यहाँ अग्निपुराणोक्त कुछ विशिष्ट तत्वों का उल्लेख किया जा रहा है। जिससे पाठक के मन में सद्यः अग्निपुराण का वैशिष्ट्य पैठ सके। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि पुराण एक विद्या है तो इस कथन के समर्थन में इसके विविध तत्त्वों का दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है। अस्तु अग्निपुराण का प्रतिपाद्य विषय प्रस्तुत है–

'अग्निपुराण' का प्रारम्भ ऋषियों के प्रश्नोत्तर से होता है। यहाँ ऋषियों के प्रश्नों के उत्तर में सूत ने शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म नामक द्विविध विद्या का परिचय दिया है। साथ ही यहाँ भी बताया गया है कि यह मत 'आथर्वणीश्रुति' का है। आगे अट्ठारह अपरा विद्या के नाम बताये गये हैं–चारवेद, छः अंग–ज्योतिष, छन्दशास्त्र इत्यादि, मीमांसा, धर्मशास्त्र, पुराण, न्याय, वैद्यक, गन्धर्व, धनुर्वेद तथा अर्थशास्त्र। इस प्रकार प्रथम अध्याय अपरा विद्या से सम्बन्धित है।

'अग्निपुराण' के द्वितीय अध्याय से सोलह अध्याय तक विभिन्न अवतारों का वर्णन किया गया है। जिसमें मत्स्यावतार, कूर्मावतार, कृष्णावतार, नृसिंहवतार, वामनवतार, परशुरामवतार, रामावतार और बुद्धावतार का वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ रामावतार और कृष्णावतार की कथा विस्तृत रूप से प्राप्त होती है। रामावतार कथा के प्रसंग में यहाँ बताया गया है कि यह सप्त–काण्डयुक्त 'वाल्मीकिरामायण' पर पूर्णतया आधारित है। 'अग्निपुराण' के बहुत से वाक्यांश हैं जो वाल्मीकि–रामायण से अविकल रूप से या अल्प पाठ भेद के साथ मिलते हैं। रामायण के विशिष्ट पात्र गुह का यहाँ उल्लेख मिलता है किन्तु शबरी का उल्लेख नहीं किया गया है। यहॉ वाल्मीकि रामायण के समान ही अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड का वर्णन किया गया है। बालकाण्ड के रूप में अग्निपुराण में श्रीरामावतार का वर्णन प्राप्त होता है। कृष्णावतार के विविध विषयों को अग्निपुराण के अध्याय बारह में बड़े विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है। साथ ही अध्याय तेरह में महाभारत आख्यान व

पाण्डवों की उत्पत्ति का, अध्याय चौदह में कौरवों और पाण्डवों के संग्राम की एवं अध्याय पन्द्रह में गान्धारी के साथ धृतराष्ट्र का वन–गमन, मूसल से यदुवंशियों का नाश। चोरों द्वारा कृष्ण की पत्नियों का हरण तथा पाण्डवों के महापथ का गमन वर्णित है। अध्याय सोलह में दैत्यों की वंचना के लिए विष्णु का बौद्धावतार। वही प्रसंगतः कल्कि अवतार और अवतारों के चरित्र श्रवण का फल वर्णित है।

अध्याय सत्रह में जगत् सृष्टि, अध्याय अट्ठारह में स्वायभुवमनु के वंशजो का वर्णन, अध्याय उन्नीस में कश्यप के वंशजों का वर्णन तथा अध्याय बीस में प्राकृत आदि सर्गों का उल्लेख एवं भृगु, मारीचि आदि के वंशजों का भी वर्णन किया गया है।

अध्याय इक्कीस से अध्याय एक सौ छः तक अनेक स्मार्त एवं तान्त्रिक कर्मों का विवरण बहुत ही विस्तृत रूप से दिया गया है। यह विवरण तन्त्र एवं स्मृति ग्रन्थों पर आधारित है। यहाँ विभिन्न देवताओं की सामान्य पूजा विधि तथा प्रतिष्ठाविधि जैसे वास्तुपूजा, प्रासाद में देवतास्थान, प्रतिभाओं के लक्षण, शालिग्रामों के लक्षण, शान्तिकर्म, अधिवास, ध्वजारोहरण, होम, दीक्षा इत्यादि का वर्णन किया गया है। पुस्तक लेखन की चर्चा अध्याय तीरसठ में की गयी है। यहॉ रौप्य के आधार पर स्वर्णनिर्मित लेखनी से नागराक्षर लिखने का उल्लेख मिलता है।

अध्याय एक सौ सात से अध्याय एक सौ बीस तक स्वायंभुवमनु के वंश, अनेक तीर्थों एवं भुवनकोशों का वर्णन प्राप्त होता है। स्वयभुवमनु के वंशजों ने पृथिवी को सात द्वीपों में बाँटकर राज्य किया था। इन द्वीपों के वर्ष, नदी, पर्वत आदि का वर्णन पुराणीय भुवनकोश का मुख्य विषय है। अग्निपराण में अनेक तीर्थ महात्म्य वर्णित है–गंगा महात्म्या, प्रयाग महात्म्या, वाराणसी महात्म्य, नर्मदा महात्म्य, गया महात्म्य। इन तीर्थों के वर्णन से अग्निपुराण के भौगोलिक स्वरूप का भी परिचय मिलता है।

अध्याय एक सौ इक्कीस से अध्याय एक सौ चैवालीस तक फलितज्योतिष, युद्धजयार्णव, नानाविध मन्त्र, औषधि एवं तान्त्रिक कर्मों का वर्णन है। फलितज्योतिष के अनेक महत्त्व यहाँ बतलाये गये हैं। युद्ध में विजय प्राप्ति के लिए जिन तान्त्रिक कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है वे यहाँ बतलाये गये हैं। संग्राम विजय विद्या के रूप में चामुण्डादेवी के ध्यान आदि का कथन अध्याय एक सौ पैतीस में किया गया है। आगे गर्भस्थ

शिशु के लक्षण को भी विस्तार से बताया गया है। कुब्जिका पूजा का उल्लेख भी यहाँ किया गया है।

अध्याय एक सौ पैतालीस से एक सौ पचास तक शाक्त और शाम्भवमन्त्र, त्रिखण्डी आदि देवता मन्त्र, गुह्य कुब्जिका देवता मन्त्र, संग्राम विजय, लक्ष कोटिहोम तथा मन्वन्तरों का वर्णन किया गया है। यहाँ स्वायंभुव, स्वारोचिष आदि चौदह मन्वन्तरों का जैसा वर्णन अन्य पुराणों में मिलता है वैसा ही यहाँ भी है। एक सौ पचासवें अध्याय में अन्त में एक वेद के चतुर्धाकरण का तथा ऋक् आदि चार वेदों की शाखाओं की अति संक्षिप्त उल्लेख है। यहाँ यजुर्वेद की 27 शाखाओं का भी वर्णन किया गया है।

अध्याय एक सौ इक्यावन से दौ सौ सत्रह तक वर्णाश्रम धर्म तथा व्रत आदि का विशद वर्णन किया गया है। यहाँ पंचधा धर्म बतलाया गया है–वर्ण, आश्रम, वर्णाश्रम, गुण और नैमित्तिक। व्रत के प्रसंग में कहा गया है कि इसे तप या नियम किस रहस्य के कारण कहा गया है। यहाँ तिथि के अनुसार व्रतों का विवरण दिया गया है। यहाँ नक्षत्रव्रत एवं दिवसव्रत का भी उल्लेख प्राप्त होता है। प्रत्येक व्रत के साथ सम्बन्धित पूजा, उपवास आदि का भी वर्णन किया गया है। गायत्री मन्त्र के अर्थ का वर्णन अध्याय दो सौ पन्द्रह में मिलता है। गायत्री जप की कर्तव्यता, हवन से वृष्टि का उल्लेख भी अग्निपुराण में प्राप्त होता है। अध्याय दो सौ सत्रह में लिंग मूर्ति–शिव की स्तुति तथा वशिष्ट के प्रति शिवकृत वरदान आदि का कथन किया गया है।

अध्याय दो सौ अट्ठारह से दो सौ बयालीस तक राजधर्म के विशेष अवदानों का महत्त्व प्रतिपादित है। यहाँ राजा का अभिषेक, सहाय–सम्पत्ति, भृत्यादि के कर्त्तव्य, दुर्ग, राज्यपालन, अन्तःपुर व्यवस्था, साम, दण्ड, भेद, युद्ध, शकुन, षाड्गुण्य तथा प्रात्यहिक राजकर्म आदि का बहुत विस्तार के साथ विवरण दिया गया है। यहाँ अध्याय दो सौ अड़तीस से दो सौ बयालीस में श्रीराम के द्वारा लक्ष्मण को राजनीति का उपदेश दिया गया है। जिसमें सात अंग (स्वामी, अमात्य, राष्ट्र इत्यादि) छः गुण सन्धि, विग्रह इत्यादि के राज्य व्यवसन सामादि उपाय एवं षड्विध बलों की विस्तृत चर्चा की गयी है।

अध्याय दो सौ तीरालीस से अध्याय दो सौ अड़तालीस तक में स्त्री–पुरुष का लक्षण, शरीर के अंग का शुभ लक्षण विधान आदि का वर्णन है। यह

अंग विद्या बहुत प्राचीन है। लक्षण प्रकाश आदि ग्रन्थों में इस शास्त्र के अनेक वाक्य उद्धृत मिलते हैं। चामरादि लक्षण के रूप में भद्रासान के लक्षण का वर्णन किया गया है। अध्याय दो सौ छियालीस में रत्न परीक्षा का उल्लेख किया गया है। जिसमें वज्र, हीरा, मरकता (पन्ना) आदि रत्नों के विषय में बतलाया गया है। मोती की उत्पत्ति का वर्णन और मोती के गुण का भी यहाँ उल्लेख मिलता है। आगे वास्तु लक्षण का भी प्रतिपादन किया गया है। इसमें चौसठ पदों में ब्रह्मादि देवताओं की स्थापना विधि, मन्त्रों द्वारा शिलान्यास, कथन, घर के समीप वृक्षारोपण कथन, वृक्षों का दोहन वर्णन प्राप्त होता है। 'अग्निपुराण' के दो सौ अड़तालीसवें अध्याय में पुष्पादि से पूजन विधि के महात्म्य को बहुत विस्तार के साथ दर्शाया गया है।

'अग्निपुराण' के अध्याय दो सौ उन्चास से अध्याय दो सौ बावन तक धनुर्वेद का वर्णन किया गया है। वैशम्पायन आदि के प्राचीन धनुर्वेद विषयक ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं। 'वासिष्ठीधनुर्वेदसंहिता' प्रचलित है परन्तु वह अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ प्रतीत नही होता है। 'कोदण्डमण्डन' ग्रन्थ बंगला–लिपि में सानुवाद प्रकाशित है पर यह बहुत ही अर्वाचीन ग्रन्थ है। युक्तिकल्पतर आदि कुछ ग्रन्थों में इस शास्त्र का अल्प विवरण मिल जाता है। ऐसी स्थिति में अग्निपुराणोक्त धनुर्वेद अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि यहाँ का विवरण अपेक्षाकृत विशद है। कामन्दकीय नीतिसार का कुछ प्रभाव भी पुराणोक्त विवरण में देखा जाता है। चतुरंगवल प्रसिद्ध है, 'अग्निपुराण' में शस्त्राहीन योद्धा को पंचम बल माना गया है। योद्धाओं के आसनों के नामों में कुछ भिन्नता भी मिलती है।

अध्याय दो सौ तिरपन से अध्याय दो सौ बासठ में स्मृतिशास्त्र का व्यवहार प्रकरण एवं ऋग्, यजु, साम एवं अथवर्वेद के मन्त्रों की विनियोग विधि बतलायी गयी है। ऋण, साक्ष्य, सम्पत्ति, विभाग, सीमा, पुरुष वाक्य आदि से सम्बन्धित व्यवहार व्यवहार–प्रकरण के अन्तर्गत आता है। अग्निपुराण का यह प्रकरण 'याज्ञवल्क्यस्मृति' पर आधारित प्रतीत होता है। वैदिक संहिताओं का विनियोग पक्ष दिया गया है, वह ऋग्विधान आदि ग्रन्थों में भी प्रतिष्ठित है। लेकिन 'अग्निपुराण' के श्लोकों में वह अशुद्ध रूप से प्राप्त भी होता है।

अध्याय दो सौ तिरसठ से अध्याय तीन सौ तक में उत्पातशान्ति, पूजा,

वैश्यदेवबलि, स्नान, होम आदि के साथ वेद की शाखाओं तथा अट्ठारह पुराणों का उल्लेख प्राप्त होता है। यहाँ सूर्य एवं सोमवंशो का धारावाहिक विवरण भी दिया गया है। यहाँ शकुन्तला पुत्र भरत का भी उल्लेख प्राप्त होता है। अध्याय 279–292 तक आयुर्वेदीय तत्वों का प्रतिपादन किया गया है। धनवन्तरि ने सुश्रुत के प्रति जो आयुर्वेद विषयक सिद्धांत का उपदेश दिया उसका भी यहाँ प्रतिपादन किया गया है। मनुष्य, अश्व तथा गज आदि के रोगों की चिकित्सा तथा अन्यान्य आवश्यक विषय संक्षेप–विस्तार के साथ कहे गये हैं। 'अग्निपुराण' का यह विवरण वाग्भट्ट–कृत 'अष्टांगहृदय' पर मुख्यतया आधारित है। यहाँ सर्प विष नाशक मन्त्र एवं चिकित्सा का भी प्रतिपादन किया गया है। अध्याय तीन में ग्रहनाशक मन्त्रों का कथन किया गया है, जिसमें गुरु और देवता आदि के कोप होने पर पांच प्रकार के रोगों की उत्पत्ति, शून्य गृह आदि में ग्रहों की स्थिति, ग्रहों से गर्भिणी आदि को होने वाली पीड़ाओं का वर्णन, सूर्यादि ग्रहों की पूजन विधि तथा ग्रह–दोष निवारण के उपाय सुझाये गये हैं।

अग्निपुराण के अध्याय तीन सौ एक से अध्याय तीन सौ सत्ताईस तक में नाना विध मन्त्रों का प्रयोग तथा मन्त्र सिद्धि के उपाय यहाँ कहे गये हैं। यहाँ गणपति मन्त्र कथन, सूर्याचन, शिष्यों की दीक्षा विधान, पचपन विष्णु के नाम, त्वरितपूजा–मन्त्र–विद्या आदि के साथ–साथ पाशुपति शान्ति, रूद्रशान्ति व देवालय माहात्म्य के रूप में माला, जप, पूजा, शिवलिंग की महिमा तथा वित्त के अनुसार देवालय निर्माण का कथन किया गया है। अध्याय तीन सौ अट्ठाइस से तीन सौ छत्तीस तक के अध्यायों में छन्द सार एवं शिक्षा का निरूपण किया गया है। यह वर्णन पिङ्गल छन्द शास्त्र पर ही आधारित है। यहाँ छन्दसूत्र के विषयक्रम का भी अनुसरण अनेक स्थानों पर किया गया है। छन्द सम्बन्धी गण, छन्दों के देवता, पाद, उत्कृति आदि छन्दोभेद, सम–अर्धसम विषम रूप तीन छन्द प्रकार, यति तथा प्रस्तार का विशद विवरण यहाँ मिलता है। यहॉ शिक्षा का वर्णन पाणिनीय शिक्षा पर ही आधारित है।

'अग्निपुराण' का तीन सौ सैतीसवाँ अध्याय काव्य लक्षण से सम्बन्धित है। इस अध्याय को भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण माना जाता है। इसमें काव्य लक्षण, गद्य–पद्य–चम्पू आदि भेद से काव्य के तीन प्रकार का वर्णन, आख्यायिका आदि भेद से गद्य के पांच प्रकार का

उल्लेख, पद्य काव्य का वर्णन तथा महाकाव्य का विधिवत लक्षण प्रतिपादित किया गया है।

'अग्निपुराण' के अध्याय तीन सौ अड़तीस से अध्याय तीन सौ सैतालीस तक नाट्य, रस, रीति, नृत्य, अभिनय, शब्दालंकार, अर्थालंकार, शब्दार्थालंकार, काव्यगुण, काव्यदोष आदि का वर्णन बहुत ही विस्तारपूर्वक किया गया है। इस अध्याय का विषय काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र दोनो की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ नाटक आदि के सत्ताईस भेद, पूर्वरंग, नान्दी, नटी, विदूषक, रति, हास, विभाव, लीला–विलास, अभिनय लक्षण आदि का विशद निरुपण है। अलंकार के रूप में अनुप्रास, सादृश्य अलंकार प्रशस्ति इत्यादि का कथन किया गया है। गुण का लक्षण माधुर्य, प्रसाद, ओज का विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है। 'अग्निपुराण' के इस भाग को काव्य के हृदय कहने में कोई अत्युक्ति नही होगी।

अध्याय तीन सौ उन्चास से तीन सौ उन्सठ तक के अध्याय में व्याकरण शास्त्र का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ प्रत्याहार सूत्र सन्धि, सुविभक्ति, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग शब्द, कारक, समास, तद्धित–प्रत्यय, उणादिगण, तिङ्विभक्ति एवं कृदन्त आदि का बहुत विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। अध्याय तीन सौ साठ से तीन सौ इक्हत्तर तक स्वर्ग वर्णन, भूमि, वनौषधि, मनुष्य, ब्रह्मवर्ग, प्रलय वर्णन एवं नरक आदि का निरूपण किया गया है। यहाँ नित्य नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यन्तिक रूप से चार प्रकार के प्रलय का विवरण दिया गया है।

'अग्निपुराण' के तीनसौबहत्तर से तीनसौअस्सी तक के अध्यायों में योग का विशद वर्णन है। यहाँ यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि तथा ब्रह्मज्ञान का उत्कृष्ट विवरण दिया गया है। प्राचीन तथा अर्वाचीन योगशास्त्रों तथा स्मृतियों में अष्टांगयोग का जो विवरण मिलता है यह पुराणोक्त विवरण उससे सारतः भिन्न नहीं है। उपनिषद्, गीता एवं 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के कई वचन यहाँ अविकल रूप से प्राप्त होते हैं। समाधि वर्णन के अनन्तर ब्रह्मज्ञान की और भी 'अग्निपुराण' ध्यानाकर्षित किया गया है। अग्निपुराण के अध्याय तीन सौ इक्यासी में गीतासार, तीन सौ बयासी में यमगीता और तीन सौ तीरासी अध्याय जो अग्निपुराण का अन्तिम अध्याय है उसमें आग्नेयमहापुराण का महात्म्य वर्णित है। इस रूप में यहाँ हेमन्त आदि में आग्नेयपुराण सुनने से अग्निष्टोमादि

यज्ञों की फल प्राप्ति होती है। आग्नेयपुराण के अन्तर्गत विषयक्रम का निरूपण किया गया है। यहाँ पुराण संख्या का कथन है। पुराण पाठक के पूजन आदि का भी यहाँ बहुत विस्तार के साथ निरूपण प्राप्त होता है। अतः अग्निपुराण में विपुल विषय के प्रतिपादन होने के कारण ही इसे विश्वविद्या कोश की संज्ञा दी जाती है।

संदर्भ :

1. महाभारत, आदिपर्व 1/204
2. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय, उपोद्धात–प्रकरण, 3
3. मत्स्यपुराण, 53/3
4. उपाध्याय पं. बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 85
5. अग्निपुराण, 1/14
6. विष्णुपुराण, 3/6/24/मार्कण्डेयपुराण, 134/13/ भविश्यपुराण, 2/5/वाराहपुराण, 2/4/ स्कन्दपुराण–प्रभासखण्ड,/ 2/84/कूर्मपुराण–पूवार्ध, 1/12/मत्स्यपुराण, 53/64/गुरूड़पुराण, आचार खण्ड 2/28/ब्रह्माण्डपुराण–प्रक्रियापाद, 1/38, इत्यादि
7. श्रीमद्भागवतपुराण, 12/7/9
8. अग्निपुराण, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, 1966, भूमिका, पृ. 13
9. मत्स्यपुराण, 53/28
10 स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड, 2/47
11. नारदीयपुराण, 1/99/1
12. अग्निपुराण, 1/8–11
13. काणे पी.वी., संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ. 6
14. द्विवेदी डॉ. पारसनाथ, नाट्यशास्त्र का इतिहास, पृ. 122
15. शास्त्री डॉ. श्रीनिवास, विषय–प्रवेश, काव्यप्रकाश, पृ. 8–9
16. मीणा, डॉ. गोपाल लाल, नाट्यशास्त्रीय सन्दर्भ में दशरूपक, भूमिका, पृ. 16
17. पाण्डेय प्रो. अमरनाथ, संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन , पृ. 1
18. द्विवेदी आचार्य रेवाप्रसाद, संस्कृमत काव्य शास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 4

19. अग्निपुराण, 382/61
20. द्विवेदी आचार्य रेवाप्रसाद, संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 8
21. तन्त्रवार्तिक, 1/3/2
22. अथर्ववेद, 10/8/32
23. काणे, पी.वी. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ. 11
24. कुमार डॉ. सुशील संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ. 92
25. द्विवेदी डॉ. पारसनाथ, अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम्, भूमिका पृ. 13–14
26. साहित्यदर्पण, 1
27. काणे, पी.वी., संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ. 11

□

द्वितीय अध्याय

नाट्यस्वरूप एवं भेद

संस्कृत काव्य शास्त्र पम्रपरा में नाट्य तत्त्वों का अपना एक विशिष्ट स्थान है। नाट्य यह ऐसा शब्द है जहाँ हमारे भाव दृश्य रूप में प्रकट होते हैं और अनुशासन को प्राप्त कर नाट्य रूप में परिणित हो जाते हैं। यह अनुशासन ही नाट्य धर्मों का नियामक है, इसी के आधार पर 'आचार्यभरत' नाट्य के विषय में कहते हैं–

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत् कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।।[1]

अर्थात् न ऐसा कोई ज्ञान है न ऐसा कोई शिल्प है, न ऐसी कोई विद्या है न ऐसी कोई कला न ऐसा कोई योग है और न ऐसा कोई कर्म है जो इस नाट्य में न दिखाई देता हो। सबकुछ यहाँ प्राप्त हो जाता है। इसका अनुशासन इस रूप में गमन करता है कि सभी विषयों को स्वयं में समेट लेता है। अनुशासन के बिना नाट्य अपना स्वरूप ग्रहण नहीं कर पाता है। वर्णन प्रसिद्ध है कि महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक में 'आचार्यभरत' के दो शिष्य क्रमशः 'गालब' और 'पेलब' के कथनोपकथन से ज्ञात होता है कि 'भरतमुनि' के शाप के कारण 'उर्वशी' को पृथ्वीलोक पर आना पड़ा। तथ्य यह है कि मुनि के द्वारा समायोजित 'लक्ष्मीस्वयंवर' नाटक में लक्ष्मी का अभिनय कर रही 'उर्वशी' से एक अपराध हो जाता है। उसके मुख से भूल वस पुरुषोत्तम के स्थान पर 'पुरूरवा' निकल पड़ता है, जिससे कुपित होकर 'आचार्य भरत' उसे शाप दे देते हैं कि–

येन ममोपदेशस्त्वया लङ्घितस्तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यति इति उपाध्यास्य शापः।[2]

अर्थात् तुमने मेरी शिक्षा का अतिक्रमण किया है, अतः अब तुम स्वर्ग में नहीं रह सकोगी। आचार्य भरत के इस प्रकार शाप देने के अनन्तर 'स्वर्गपति इन्द्र' ने उसे पृथ्वीलोक पर 'पुरूरवा' की संगिनी इस समय तक बनने के लिए कहा–

यस्मिंस्त्वं वद्धभावासि तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियमित्र करणीयम् तत्ततत्त्वं यथाकामं पुरुरव समुपतिष्ठिस्वयावत्स त्वयि दृष्टसन्तानो भवेदिति।[3]

अर्थात् जिससे तुम्हारा अनुराग है वह मेरे युद्धों का सहायक है। उस राजर्षि पुरूरवा का तुम्हें प्रिया बनना चाहिए। अतः तब तक तुम यथेष्ट पुरूरवा के पास रहो जब तक वह तुमसे उत्पन्न सन्तान को न देख ले। इस प्रकार हम देखते हैं नाट्य–अभिनय में उर्वशी की एक छोटी भूल उसे स्वर्ग से पृथ्वी लोक पर आने के लिए बाध्य कर देती है। इस वर्णन से यह विदित होता है कि नाट्य में कोई भी अपराध क्षम्य नही है। इसलिए हमारे शास्त्रकारों के द्वारा नाट्य नियम बनाये गये हैं जिसका अनुसरण कर सम्यक् रूप से नाट्य प्रयोग किया जा सके। फलतः अग्निदेव कहते हैं–

काव्यस्य नाटकादेश्च अलंकारान्वदाम्यथ।
ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद्वाङ्मयं मतम्।।[4]

अर्थात् अब मैं काव्य, नाटक आदि के अलंकारों का वर्णन करता हूँ। ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य वाङ्मय कहलाता है। यहाँ काव्य और नाटक के अलंकारों से तात्पर्य काव्य व नाटकों के सभी अनिवार्य धर्मों से है। जिसका प्रयोग कर कवि अपने रचना संसार को प्रतिष्ठित करता है।

नाट्य विषय में आचार्य धनञ्जय लिखते हैं–

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते,
रूपकं तत्समारोपात्।[5]

अर्थात् अवस्था का अनुकरण नाट्य कहलाता है। दृश्य होने के कारण यह नाट्य रूप भी कहलाता है और आरोप होने के कारण वह नाट्य रूपक कहलाता है। यहाँ आचार्य धनञ्जय ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि काव्य में वर्णित नायक आदि के अवस्थाओं का अनुसरण नाट्य है। इसका चाक्षुश प्रत्यक्ष होता है अतः रूप है और रामादि की अवस्था का आरोप किये जाने के कारण

यह रूपक है। आचार्यविश्वनाथ भी अपने 'साहित्यदर्पण' में लिखते हैं–

दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम्।[6]

अर्थात् दृश्य नामक काव्यभेद वह है जिसे अभिनय द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। यह दृश्य नामक रूपक इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें नट चित्रित चरितों के रूप का अपने मन में आरोप करते हैं। यही उसका आरोप जो सौन्दर्य एवं कोमल कल्पना का रूप ग्रहण कर सहृदय को रसमग्न कर देता है। यह रूपक नेत्र मार्ग से हृदय को चमत्कृत करता है। इसके विषय में पं. बलदेव उपाध्याय लिखते हैं–'किसी वस्तु को देखने का आनन्द उसके सुनने की अपेक्षा कहीं अधिक होता ही है। काव्य में रसानुभूति के लिए अर्थ का समझना नितान्त आवश्यक होता है परन्तु नाटक में इसकी आवश्यकता नही रहती है।[7] इसलिए नाटक की समता चित्र से की गयी है–

सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः।
तद्धि चित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्।।[8]

अर्थात् सन्दर्भ काव्यों (प्रबन्धकाव्य) में दश प्रकार का रूपक श्रेय माना जाता है। वह चित्रपट के समान विशेषताओं से युक्त होने के कारण चित्ररूप है। अभिप्राय यह है कि जैसे चित्र विविध रंगो के सम्मिश्रण से दर्शक को चमत्कृत कर देता है वैसे ही रूपक वेश–भूषा, नेपथ्य, साज–सज्जा, ताल–लय इत्यादि के उचित प्रयोग से दर्शकों के हृदय पर अमिट प्रभाव छोड़ता है तथा उनके हृदय में आनन्द का बाढ़ उत्पन्न करता है। इसीलिए आचार्यवामन काव्यों में रूपक को विशेष महत्त्व प्रदान किये हैं।

रूपक की श्रेष्ठता का एक कारण और भी है कि श्रव्यकाव्य की रसानुभूति के लिए जिस वातावरण और कल्पना की आवश्यकता होती है वह सभी नही कर पाते हैं। वह तो सहृदय के लिए ही सम्भव है, लेकिन रूपक में अभिनेयता की सकल सामग्री वेशभूषा इत्यादि से रसानुभूति व अर्थ ढूढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। फलतः श्रव्य के अपेक्षा दृश्य का आकर्षण अधिक माना जाता है। इसी से रूपक को कवित्त्व की चरम सीमा माना जाता है।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद के अनुसार नाट्यशब्द नट् (नमनार्थक) धातु से निष्पन्न है, जहाँ पात्र अपने स्वभाव को त्याग कर परभाव करे तो वह

नाट्य रूप हो जाता है। वैयाकरण पाणिनि अष्टाध्यायी में लिखे हैं–**नटानां धर्म आश्रयो वा नाट्यम्**[9] अर्थात् नटों के धर्म या चेष्टाओं के अतिरिक्त उनके सम्पाद्य कर्म का प्रतिपादक नाट्य है। आचार्य भरत ने नाट्य की व्यापक चर्चा की तथा उसे वाक्यार्थ के अभिनय द्वारा अभिव्यक्त करते हुए सहृदय के चित्त में रसोत्पत्ति का आधायक तत्त्व कहा है। इस प्रकार नाट्य रसाश्रत्तय हो जाता है जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। इस नाट्य की दृश्यमयता ही उसे रूपक बनाती है। इस प्रकार दृश्यकाव्यों के लिए नाट्य, रूपक तथा नाटक शब्द प्रचलित हैं।

रूपक जिसका हम व्यवहार नाटक नाम से करते हैं। इसके आविर्भाव का एक उद्देश्य है। देवताओं के प्रार्थना पर ब्रह्म जी ने सार्ववर्णिक पंचम वेद रूप में नाट्यवेद को उत्पन्न किया–

धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेश्यं ससङ्ग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्।।
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्।
नाट्याख्यं पंचमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्।।[10]

अर्थात् धर्म की प्राप्ति कराने वाला, अर्थनीय, यशः प्रदाता या सर्वत्र प्रसिद्धि, उपदेश के योग्य लोकज्ञान से युक्त भावी जगत् के सभी कर्मों का पथप्रदर्शक समस्तशास्त्रों के अर्थों से परिपूर्ण समस्त शिल्पों को प्रदर्शित करने वाला इतिहास साहित्य में नाट्य नामक पंचम वेद की रचना करता हूँ। इस पंचम वेद नाट्य का लक्षण देते हुए आचार्य भरत मुनि लिखते हैं–

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।[11]

यह नाट्य इस सम्पूर्ण त्रिलोक के भावों का अनुकीर्तन है। कहने का भाव यह है कि सम्पूर्ण लोक के सुख, दुःख, लाभ–हानि इत्यादि विषयों का चित्रण ही नाटक का मूलोदेश्य है। इसी उद्देश्य की पूर्ति में नाटक सदैव संलग्न रहता है। एक बात और यहाँ स्पष्ट करने योग्य है कि नाटक लोक के विविध स्वरूपों का मात्र चित्रण ही नहीं करता बल्कि उसे रसपेशल भी बनाता है। उसके सुख–दुःखात्मक सभी चित्रण आनन्दायक ही हुआ करते हैं। यही नाट्य की विलक्षणता है। जब हम 'उत्तररामचरित' नाटक में सीता के वियोग में रामचन्द्र को रोते हुए देखते हैं तो वहाँ **'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'**[12] अर्थात् पत्थरों को भी रोते हुए पाते हैं, तब भी

उस करुण रस में आनन्द की ही अनुभूति होती है। उस आनन्दातिरेक से द्रवीभूत होकर नेत्रों से भी अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है। इसीलिए साहित्यदर्पणकार आचार्यविश्वनाथ लिखते हैं–

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।।[13]

अर्थात् जब सहृदय सामाजिक को करुण आदि रसों मे भी अनिवर्चनीय आनन्द ही मिला करता है तब तो यही सिद्ध है कि करुण आदि रस ही हैं, आनन्दरूप आस्वाद ही है। इसीलिए कवि की सृष्टि ह्लादैकमयी–केवल सुखमयी ही कही जाती है। इसी आधार पर 'आचार्यभरत' नाट्य को सर्वश्रेष्ठ कृति मानते हैं। इसके सर्वश्रेष्ठ कृति का जो सर्जक होता है अर्थात् कवि उसके प्रतिभा की वैशिष्ट्रूपता ही कृति को सर्वश्रेष्ठता प्रदान करती है। इसलिए 'अग्निपुराण' में कवि के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है–

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा।[14]

अर्थात् संसार में मनुष्य जन्म की प्राप्ति बड़ी कठिनता से होती है। मनुष्य जन्म प्राप्त करके भी उसमें विद्या की उपलब्धि और कठिन है तथा विद्या प्राप्त करके भी उसमें कवित्त्व तो और दुर्लभ है। कवित्त्व होने पर भी उसमें शक्ति अर्थात् प्रतिभा का होना तो और दुर्लभ माना जाता है। इस प्रकार दुर्लभ प्रतिभावान कवि ही काव्य रचना में समर्थ हो पाते हैं। ऐसे ही कवि अपने कृति में आनन्द के साथ चरित्र का निर्माण करते हैं तथा जीवन के सभी पक्षों को उदात्त एवं आदर्शमय बनाकर नाटक की सार्थकता को सिद्ध करते हैं।

नाट्य की महत् वृद्धि सामाजिक की दृष्टि पर निर्भर करती है। सामाजिक दो प्रकार के होते हैं। प्रथम तो वह होता है जो काव्य धर्म से पूर्ण परिचित एवं अभ्यास रखने के कारण कवि के हृदय के साथ तन्मय होने की योग्यता रखता है। यह 'कवि समानं हृदयं सहृदयम्' की स्थिति होती है। द्वितीय होता है–असहृदय जिसके हृदय में भावना की कोई प्रतीति ही नही होती है। दोनों तरह के सहृदयों के लिए नाटक अनुभूति तैयार करता है। इस अनुभूति के लिए जिस उचित वातावरण की आवश्यकता

होती वह रंगमंच पर उपस्थित पात्रों के वेश तथा साज–सज्जा, आदि के द्वारा तत्क्षण उत्पन्न किया जाता है। उसकी सहज अभिव्यक्ति सहृदय तथा असहृदय सबको चमत्कृत कर देती है। यथा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक में आया है–

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा।।[15]

अर्थात् आकृष्ट कर दूर ले जाते हुए अत्यन्त वेगवाले मृग के द्वारा यह राजा दुष्यन्त जैसा मैं मनोहर तथा अत्यन्त प्रभावकारी तुम्हारे संगीत के राग से बलात हर लिया गया हूँ। यह रथ पर आसीन हुए, धनुष धारण किये हुए यथोचित वेशभूषा में दुष्यन्त हिरण का पीछा करता है। तब बिना किसी व्याख्या के ही दर्शकों को समयोचित रस का आस्वादन होने लगता है। जिसका कारण अनुकूल वातावरण ही है। यहाँ न वृहद् कल्पना की आवश्यता है और न ही उसके भाव गाम्भीर्य को ढूढ़ने की जरूरत है। रंगमंचीय जंगल का मधुर दृश्य और राजकीय वेशभूषा से अलंकृत राजा एवं वे रोक दौड़ने वाले घोड़े तथा सामने भागने वाले हिरण के दृश्य को देखकर सहज ही रसानुभूति हो जाती है। यहाँ न सहृदय की बात है और न असहृदय की बल्कि सभी सामाजिकों के एक साथ रसानुभूति हो जाती है। इसीलिए संस्कृत के आलोचक 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' का उद्घोष करते हैं। इसीलिए तो कवि कालिदास 'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक में लिखते हैं–

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरेस्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुषाव्येकं समाराधकम्।।[16]

अर्थात् मुनियों का कहना है कि यह नाटक तो देवताओं की आखों को सुहाने वाला शान्त यज्ञ है। स्वयं महादेव ने ही उमा से विवाह करके अपने शरीर में इसके दो भाग कर दिये हैं–एक ताण्डव और दूसरा लास्य। इसमें सत्त्व, रज और तम् तीनों गुण भी दिखलाए जाते हैं और अनेक रसों में लोगो के चरित्र भी दिखाई पड़ते हैं। इसीलिए अलग–अलग रुचि वाले लोगों के लिए भी प्रायः नाटक ही ऐसा उत्सव है जिसमें सबको एक सा आनन्द मिलता है। जगत् के प्राणियों की रुचि भिन्न–भिन्न हुआ करती है।

कोई किसी वस्तु से मोहित होता है तो कोई किसी से, लेकिन नाटक एक ऐसी विधा है जिसमें सभी लोगों को अपनी आवश्यकता की वस्तु एक ही स्थान पर मिल जाती है। इन महनीयताओं से मण्डित नाट्य के सत्ताईस भेद अग्निपुराण में बताये गये हैं–

नाटकं सप्रकरणं डिम ईहामृगोऽपि वा।
ज्ञेयः समवकारश्च भवेत्प्रहसनं तथा।।
व्यायोगभाणवीथ्यंकत्रोटकान्यथ नाटिका।
सट्टकं शिल्पकः कर्णा एको दुर्मल्लिका तथा।।
प्रस्थानं भाणिका भाणी गोष्ठी हल्लीशकानि च।
काव्यं श्रीगदिनं नाट्यरासकं रासकं तथा।।
उल्लाप्यकं प्रेङ्क्षणं च सप्तविंशतिधैव तत्।[17]

अर्थात् यह दृश्य काव्य सत्ताईस प्रकार का होता है। नाटक, प्रकरण, डिम, इहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अंक, त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, कर्ण, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीगदित, नाट्यरासक, रासक, उल्लाप्यक, प्रेक्षण। इन सत्ताइस प्रकार के दृश्य काव्यों का उल्लेख अग्निपुराण में किया गया है लेकिन इनके लक्षणों का निर्देश नहीं किया गया है। अन्यनाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इसका लक्षण आदि मिलता है। 'साहित्यदर्पण' में दश प्रकार के रूपक एवं अट्ठारह प्रकार के उपरूपक का वर्णन किया गया है–

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश।।[18]

अर्थात् रूपक के दश प्रकार हैं–नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन। इन दश प्रकार रूपकों के अतिरिक्त 'साहित्यदर्पण' में अट्ठारह प्रकार के उपरूपक भी बताये गये हैं–

नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम्।
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा।।
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका।
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च।।
अष्टादश प्राहुरुपकाणि मनीषिणः।
बिना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्।।[19]

अर्थात् नाट्यकोविदों ने अट्ठारह प्रकार के उपरूपकों को इस प्रकार वर्णन किये हैं–नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीशक। इस प्रकार साहित्यदर्पण के अनुसार रूपक एवं उपरूपक कुल मिलाकर अट्ठाइस रूपकों की संख्या हो जाती है। यहाँ अग्निपुरण से एक अधिक रूपक की कल्पना की गयी है। यह वर्णन निरा कालानिक नहीं अपितु वास्तविक है। दशरूपक में भी शुद्ध रूपक दश ही माने गये हैं। शेष संकीर्ण रूपक के अन्तर्गत आते हैं। नाट्यशास्त्रीय परम्परा में यह भी कहा जाता है रूपक तो नाट्य है और उपरूपक नृत्य। नाट्य रसाश्रय हुआ करता है और नृत्य भावाश्रय। रूपक को वाक्यार्थाभिनयात्मक कहा गया है और उपरूपक को पदार्थाभिनयात्मक। नाट्याचार्य भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में दश रूपकों का ही पूर्णनिरुपण मिलता है। उनके द्वारा उपरूपकों का कोई निर्देश नही दिया गया है। नाट्यवेद में उपरूपक विमर्श की परंपरा सर्वप्रथम नाट्याचार्य कोहल से प्रारंभ हुई है। जैसा कि अभिनवगुप्त अपने 'अभिनवभारती' में लिखते हैं–

प्रयोगाय प्रयोगत इति व्याख्याने प्रयोगत इति विफलमेव। उक्ताव्याख्याने तु कोहलादिलक्षिततोटकसट्टकरासकादि संग्रहः फलम्।[20]

अभिनवगुप्त की इस उक्ति का यही संकेत है कि उपरूपक विकल्प कोहल और उनके अनुयायी नाट्याचार्यों की देन है। आचार्यधनञ्जय के दशरूपक में उपरूपकों को नृत्य का भेद माना गया है–

डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासकाः।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत।।
इति रूपकान्तराणामपि भावादवधारणानुपपत्तिरिति।[21]

अर्थात् डोम्बी, श्रीगदितं, भाव, भाणी, प्रस्थान, रासक और काव्य ये नृत्य के सात भेद होते हैं। वे सभी भाण के समान हैं। इसी प्रकार अन्य प्रकार के रूपक भी विद्यमान हैं। कहने का भाव यह है कि रूपक तो रसाश्रय होते हैं–'दशधैवरसाश्रयम्'[22] और उपरूपक–'अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम्'[23] के कारण नृत्यभेद हैं। रूपक के अभिनय में चतुर्विध अभिनय की अपेक्षा होती है। जबकि उपरूपक के अभिनय में आंगिक अभिनय का ही बाहुल्य रहा करता है। उपरूपक के प्रकार भी भिन्न–भिन्न नाट्याचार्यों की दृष्टि

में भिन्न–भिन्न ही हैं। भोजराज अपने 'शृंगारप्रकाश' में चौदह उपरूपकों का वर्णन किये हैं। शारदातनय के 'भावप्रकाशन' में अट्ठारह उपरूपकों का सोदाहरण लक्षण मिलता है। अतः विदित होता है कि नाट्यपरम्परा में उपरूपकों की गहन मीमांसा की गयी है। लेकिन 'अग्निपुराण' में रूपकोपरूपक का कोई निर्देश नही मिलता है। दृश्य काव्य के रूप में सत्ताईस प्रकार के रूपकों का ही निर्देश यहाँ किया गया है, उसमें रस और भाव की दृष्टि से कोई विभाजन नहीं है। यहाँ मात्र अभिनय की दृष्टि से रूपकों की चर्चा की गयी है। अतः अग्निपुराणोक्त रूपकों का लक्षण अन्य लक्षणकारों के मत से करना समीचीन प्रतीत होता है। यथा–

1. नाटक[24]–'जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि पुराणाकार ने रूपकों का केवल नाम निर्देश किये हैं। अतः उनके लक्षण के लिए अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ की अपेक्षा सिद्ध होती है। अस्तु–

प्रख्यातवस्तुविषयं प्रख्यातोदात्तनायकं चैव।
राजर्षिवंश्यचारितं तथैव दिव्याश्रयोपेतम्।।
नानाविभूतिभिर्युतम् ऋद्धिविलासादिभिर्गुणैश्चैव।
अंकप्रवेशकाख्यं भवति हि तन्नाटकं नाम।।[25]

अर्थात् जिसमें कथावस्तु का विषय प्रख्यात इतिवृत्त रहे। जिसका नायक प्रसिद्ध और उदात्त हो, जिसमें राजवंश में प्रसूत पात्र का वर्णन हो, जिसमें दिव्य आश्रय विद्यमान हो, जिसमें अनेक ऐश्वर्यगत संपन्नता हो, जो समृद्धि और विलास आदि गुणों से युक्त हो, जिसमें उचित संख्या में अंक तथा उपयुक्त प्रवेशक आदि विद्यमान या संयोजित किये गये हों तो उसे नाटक समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त नाटक की अन्य विशेषताओं को भी 'नाट्यशास्त्र' में आचार्यभरत मुनि बताये हैं, जिनका उल्लेख नाट्यधर्मों के रूप में क्रमशः किया जायेगा।

2. प्रकरण[26]–अग्निपुराण में प्रकरण रूपक का भी नाम निर्देश किया गया है, जिसके लक्षण के सम्बन्ध में 'नाट्यशास्त्र' में कहा गया है–

यत्र कविरात्मशक्त्या वस्तु शरीरञ्च नायकश्चैव।
औत्पत्तिकं प्रकुरुते प्रकरणमिति तद्वुधैर्ज्ञेयम्।।
यदनार्षमथाहार्यं काव्यं प्रकरोत्यभूतगुणयुक्तम्।
उत्पन्नवीजवस्तु प्रकरणमिति तदपि विज्ञेयम्।।[27]

अर्थात् जब नाटककार अपनी प्रतिभा से ऐसी कल्पित कथावाली रूपक रचना करे जिसमें नाटकीय कथावस्तु और नायक का कलेवर मौलिक होकर प्रसृत हो तथा जब कवि अपनी कथावस्तु के बीज किसी ऋशि प्रणीत प्राचीन रचना से न गृहीत करे और उसमें काव्य सौष्ठव एवं अभूतपूर्व गुणों का समावेश किया जाय तो ऐसी मौलिक कथा बीजों से आरचित नाट्य रचना को भी प्रकरण ही समझना चाहिए।

3. डिम[28]–अग्निपुराणोक्त डिम रूपक का लक्षण 'नाट्यशास्त्र' में इस प्रकार दिया गया है–

प्रख्यातवस्तुविषयः प्रदयातोदात्तनायकश्चैव।
षड्रस लक्षणयुक्तश्चतुरंको वै डिमः कार्यः।।[29]

अर्थात् डिम की कथावस्तु प्रख्यात होती है तथा इसका नायक भी प्रसिद्ध तथा उदात्त होता है। इसमें छः रस तथा चार अंक होते हैं।

4. ईहामृग[30]–ईहामृग का लक्षण देते हुए नाट्यशास्त्र में कहा गया है–

दिव्यपुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्धः।
सुविहितवस्तुनिवद्धो विप्रत्ययकारकश्चैव।।[31]

अर्थात् ईहामृग में दिव्य नायक होता है और दिव्य स्त्री के कारण महायुद्ध होता है। इसकी कथावस्तु सुगठित होती है और प्रायः विश्वसनीय घटनाओं वाली भी यह होती है।

5. समवकार[32]–अग्निपुराण में प्राप्त समवकार निर्देश के नाम के विषय में 'नाट्यशास्त्र' में कहा गया है–

देवासुरबीजकृतः प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव।
त्र्यंकस्तथा त्रिकपटस्त्रिविद्रवः स्यात् त्रिशृंगारः।।
द्वादशनायकवहुलो ह्यष्टादशनाडिका प्रमाणश्च।[33]

अर्थात् इस समवकार में देव तथा असुरों की प्रख्यात कथावस्तु का बीजार्थ या किसी प्रयोजन विशेष से सम्बद्ध रूप रहता है। इसके नायक प्रसिद्ध और उदात्त होते हैं। इसमे तीन प्रकार के कपट, तीन प्रकार के विद्रव और त्रिविध शृंगार रहता है। इसमें बारह नायक होते हैं और इसका अट्ठारह नाड़िका के प्रमाण वाला समय होता है।

6. प्रहसन[34]–नाट्यशास्त्र में दो भेद बतलाये गये हैं–

प्रहसनमपि विज्ञेयं द्विविधं शुद्धं तथा च संकीर्णम्।
वक्ष्यामि तयोर्युक्तया पृथक्पृथग्लक्षणविशेषम्।।[35]

अर्थात् प्रहसन के दो भेद होते हैं–एक शुद्ध प्रहसन और दूसरा संकीर्ण। अब मैं दोनों का पृथक–पृथक विशेष लक्षण बतलाता हूँ–

शुद्ध प्रहसन

भगवत्तापसविप्रैरन्यैरपि हास्यवादसम्बद्धम्।
कापुरूषसम्प्रयुक्तं परिहासाभाषणप्रायम्।।
अविकृतभाषाचारं विशेषभावोपपन्नचरितपदम्।
नियतगतिवस्तुविषयं शुद्धं ज्ञेयं प्रहसनं तु।।[36]

अर्थात् शुद्ध प्रहसन में शैव, गुरु और ब्राह्मणों के परिहास पूर्ण संवाद होते हैं और साधारण पुरुषों के परिहासपूर्ण अभिप्रायों के सूचक वचन रहते हैं तथा कथावस्तु में यथार्थ भाषा और व्यवहार को उपस्थापित कर अन्त तक इस तत्त्व का निर्वाह करते हैं।

संकीर्ण प्रहसन

वेश्याचेटनपुंसकविटधूर्ता वन्धकी च यत्र स्युः।
अनिभृतवेषपरिच्छदचेष्टितकरणैस्तु संकीर्णम्।।[37]

अर्थात् जिसमें वेश्या, चेट, नंपुसक, विट, धूर्त तथा रक्षिता स्त्री की अपने असभ्य वेश तथा चेष्टाओं सहित स्थिति रहे तो उसे संकीर्ण या मिश्र प्रहसन कहते हैं।

7. व्यायोग[38]–नाट्य विधा व्यायोग का उल्लेख अग्निपुराण में मिलता है जिसके सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में कहा गया है–

व्यायोगस्तु विधिज्ञैः कार्य प्रख्यातनायकशरीरः।
अल्पस्त्रीजनयुक्तस्त्वेकाहकृतस्तथा चैव।।
बहवश्च तत्र पुरूषा व्यायच्छन्ते यथा समवकारे।
न च दिव्यनायकयुक्तः कार्यस्त्वेकांक एवायम्।।[39]

अर्थात् व्यायोग में एक नायक होता है जो प्रख्यात होता है। इसमें स्त्री पात्र कम होते हैं और एक दिन में पूर्ण हो जाने वाली घटना कथावस्तु मे रखी जाती है। इसमें समवकार नाट्यरू के समान अनेक पुरुष पात्रों की भूमिका होती है। इसमें दिव्य नायक नही होता है। इसमें एक ही अंक होना चाहिए।

8. भाण[40]—अग्निपुराणोक्त भाण नामक रूपक का लक्षण 'नाट्यशास्त्र' में इस प्रकार दिया गया है—

आत्मानुभूतशंसी परसंश्रयवर्णनाविशेषस्तु।
विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहार्यश्च।।
धूर्तविटसम्प्रयोज्यो नानावस्थान्तरात्मकश्चैव।
एकाङ्को बहुचेष्टः सततं कार्यो बुधैः भाणः।।[41]

अर्थात् भाण एक पात्रीय अभिनीत रूपक होता है और यह दो प्रकार का होता है—एक तो स्वानुभूतिपूर्ण विचारों को कहने वाला या फिर किसी अन्य व्यक्ति की बातों का वर्णन करने वाला। भाण में एक धूर्त या विट पात्र रहता है। इन्हीं जैसे पात्रों की विभिन्न अवस्थाओं का भी इसमें निर्देशन कराया जाता है। भाण एक अंक का होता है, जिसमें विट या धूर्तपात्र के द्वारा ही अनेक चेष्टाओं का अभिनय किया जाता है।

9. वीथी[42]—इस वीथी के सम्बन्ध में 'नाट्यशास्त्र' में कहा गया है—

सर्वरस लक्षणवाढ्या युक्ता ह्यङ्गैस्त्रयोदशभिः।
वीथी स्यादेकाङ्का तथैकहार्या द्विहार्या वा।।
अधमोत्तममध्याभिर्युक्ता स्यात् प्रकृतिभिस्तिसृभिः।
उद्घात्यकावलगितावस्यन्दित नाल्यसत्प्रलापाश्च।।[43]

अर्थात् समस्त रसों के लक्षणों से सम्पन्न तथा तेरह अंगों से युक्त और एकपात्र अथवा दो पात्रों के द्वारा अभिनेय एक अङ्क वाली वीथी होती है। वीथी में एक अंक तथा एक या दो पात्र होते हैं। इसमें उत्तम, मध्यम या अधम तीनों प्रकृति के पात्र रखे जा सकते हैं। आगे तेरह वीथ्यंगो का भी नाम निर्देश भरतमुनि किये हैं।

10. अङ्क[44]—अङ्क विषय को प्रतिपादित करते हुए नाट्यशास्त्र में आचार्य भरत कहते हैं—

अङ्क इति रूढिशब्दो भावैश्च रसैश्च रोहयत्वर्थान्।
नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद् भवेदङ्कः।।[45]

अर्थात् अङ्क वह रूढ़ी शब्द है जो कि भाव तथा रसों से नाटक के अर्थों को अनेक विधान तथा लक्षणों आदि के द्वारा सम्बन्धित करता है।

इसी कारण यह अङ्क कहलाता है। अङ्क शब्द को नाटक के अङ्कों के अर्थ में मुख्यतः ग्रहण किये जाने और प्रसिद्ध होने से उससे भिन्न रूपकों के भेद को बतलाने के लिए उसकी उत्सृष्ठिका संज्ञा प्रदान की गयी थी। परन्तु कालान्तर में उसका अङ्क नाम ही शेष रहा और प्रचलित हो गया। आचार्य भरत स्पष्टतः दशरूपकों का ही निर्देश 'नाट्यशास्त्र' में करते हैं–

नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च।
भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः।।
ईहामृगश्च विज्ञेयो दशमो नाट्यलक्षणे।[46]

अग्निपुराणोक्त इन दशरूपकों के लक्षण के अन्तर अन्य लक्षणकारों के मत में शेष रूपक–उपरूपक माने जाते हैं लेकिन अग्निपुराण में कही भी उपरूपक शब्द का उल्लेख नही किया गया है। अतः अग्निपुराण इन्हें रूपक ही मानता है। अग्निपुराण में इन रूपकों को सम्यकतया परिभाषित नही किया गया है। अतः इनके विषय को एवं परिभाषा को अन्य लक्षणकारों के ग्रन्थ से उद्धृत किया जा रहा है। जो निम्न रूप में है–

11. त्रोटक[47]–त्रोटक के सम्बन्ध में 'साहित्यदर्पण' में कहा गया है–

सप्ताष्टनवपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसंश्रयम्।
त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यङ्कं सविदूषकम्।।[48]

अर्थात् त्रोटक वह उपरूपक है जो पांच, सात, आठ तथा अधिक से अधिक नव अंको में रचा जाया करता है। इसमें देव और मानव दोनों का संमिश्रित वृत्त वर्णित हुआ करता है। इसके प्रत्येक अंक में विदूषक की उपस्थिति आवश्यक होती है। त्रोटक को ही तोटक भी कहा जाता है। 'भावप्रकाशन' में शारदातनय ने इसे त्रोटक ही कहा है।

12. नाटिका[49]–नाटिका के विषय में आचार्यविश्वनाथ लिखते हैं–

नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः।।
स्यादन्तःपुरसम्बद्धा संगीतव्यापृताथवा।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा।।[50]

अर्थात् नाटिका वह रूपक है जिसका वृत्त कवि द्वारा कल्पित होता है। इसमें स्त्री चरित्र ही अधिकाधिक चित्रित हुआ करते हैं। इसका चार अंकों में समाप्ति होना आवश्यक है। इसमें प्रख्यात राजवंश के धीरललित

प्रकृति वाले राजा को नायक के रूप में रखा जाया करता है। इसमें जो नायिका हुआ करती है उसके लिए नायक के अन्तःपुर से सम्बद्ध होना अथवा संगीतकला में निपुण होना राजकुलोत्पन्न होना तथा नवानुरागवती कन्या होना अपेक्षित है।

13. सट्टक[51]–सट्टक रूपक को आचार्यों के द्वारा उपरूपक के रूप में गणना किया गया है–

सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं स्यादप्रवेशकम्।
न च विष्कम्भकोऽप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः।
अङ्का जवनिकाख्याः स्युः स्यादन्यन्नाटिकासमम्।।[52]

अर्थात् सट्टक नामक उपरूपक वह है जिसकी रचना आरंभ से अन्त तक प्राकृत भाषा में होती है। इसमें प्रवेशक और विष्कम्भक दोनों में से किसी की भी आवश्यकता नहीं हुआ करती है। इसका प्रधान रूप से अभिव्यङ्ग्य अद्भुत हुआ करता है। इसकी और विशेषताएं नाटिका के समान ही होती हैं। केवल इसके अंकों का नाम जवनिका हुआ करता है।

14. शिल्पक[53]–शिल्पक के विषय में 'साहित्यदर्पण' में कहा गया है–

चत्वारः शिल्पकेऽङ्काः स्युश्चतस्रो वृत्तयस्तथा।
अशान्तहास्याश्च रसा नायको ब्राह्मणो मतः।।
वर्णनाऽत्र श्मशानादेर्हीनः स्यादुपनायकः।
सप्तविंशतिरङ्गानि भवन्त्येतस्य तानि तु।।[54]

अर्थात् शिल्पक वह उपरूपक है जिसमें चार अंक और चारों वृत्तियाँ हुआ करती हैं। इसमें शान्त और हास्य को छोड़ अन्य रसों की अभिव्यञ्जना की जाया करती है। इसका उपनायक अधम प्रकृति का व्यक्ति हुआ करता है। इसके 27 अंग हुआ करते हैं। यह आचार्य विश्वनाथ का शिल्पक लक्षण भावप्रकाशन का अनुकरण है।

15. दुर्मल्लिका[55]–दुर्मल्लिका की परिभाषा देते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं–

दुर्मल्ली चतुरङ्का स्यात् कैशिकीभारतीयुता।
अगर्भा नागरनरा न्यूननायकभूषिता।।
त्रिनालिः प्रथमोऽङ्कास्यां विटक्रीडामयो भवेत्।
पञ्च नार्लिर्द्वितीयोऽङ्को विदूषक विलासवान्।।

षण्णालिकस्तृतीयस्तु पीठमर्दविलासवान्।
चतुर्थो दशनालिः स्यादङ्कः क्रीडितनागरः।।[56]

अर्थात् दुर्मल्लिका वह रूपक है जिसकी रचना चार अंकों में होती है और जिसमें कैशिकी और भारतीवृत्ति का उपनिबन्धन हुआ करता है। इसमें गर्भसन्धि नहीं हुआ करती है। इसके पात्र कला–कुशल हुआ करते हैं। इसका नायक नीच प्रकृति का व्यक्ति होता है। इसका प्रथम अंक ऐसा हुआ करता है जिसका अभिनय में तीन नाडी (छः घड़ी) का समय लगता है और विट की विविध क्रीड़ाओं से परिपूर्ण रहा करता है। इसके दूसरे अंक के अभिनय में पांच नाड़ी (दश घड़ी) का समय लगा करता है इसमें विदूषक की लीलाएं प्रचुर मात्रा में रहा करती है। इसका तीसरा अंक छः नाड़ी (बारह घड़ी) का समय लिया करता है और पीठमर्द की भावभंगिमाओं से भरपूर हुआ करता है। इसके चौथे अंक में दश नाड़ी (बीश घड़ी) का समय लगा करता है और नायक की क्रीड़ायें प्रदर्शित की जाया करती हैं।

16. प्रस्थानम्[57]–प्रस्थानम् के सम्बन्ध में कहा गया है–

प्रस्थाने नायको दासो हीनः स्यादुपनायकः।
दासी च नायिकाः वृत्तिः कैशिकी भारती तथा।।
सुरापानसमायोगादुद्दिष्टार्थस्य संहृतिः।
अंङ्कौ द्वौ लयतालादिर्विलासो बहुलस्तथा।।[58]

अर्थात् प्रस्थानक वह उपरूपक भेद है जिसमें कोई भृत्य नायक रूप में चित्रित हुआ करता है और उसका उपनायक उससे भी हीन श्रेणी का रहा करता है। इसमें किसी दासी को नायिका रूप में रचा जाया करता है। यहाँ कैशिकी और भारती दो वृत्तियाँ अपेक्षित होती हैं। इसके उपस्थापित विषय की समाप्ति मदिराविनोद के वर्णन के साथ हुआ करती है। यह दो अंकों में ही रचा जाता है। इसमें लय और ताल आदि संगीतात्मक विलास अधिक मात्रा में रहा करते हैं। इसे प्रस्थान भी कहा जाता है। अग्निपुराण और भावप्रकाशन में[59] इसे प्रस्थान नाम से ही अभिहित किया गया है।

17. भाणिका –अग्निपुराणोक्त भाणिका के विषय में आचार्य विश्वनाथ अपने 'साहित्यदर्पण' में लिखते हैं–

भाणिका श्लक्ष्णनेपथ्य मुखनिर्वहणान्विता।
कैशिकीभारती वृत्तियुक्तैकाङ्क विनिर्मिता।।

उदात्तनायिका मन्दनायकात्राङ्गसप्तकम्।[60]

अर्थात् भाणिका वह उपरूपक भेद है जिसमें सुन्दर नेपथ्य रचना अपेक्षित हुआ करती है। इसमें मुख और निर्वहण संधियाँ ही रहा करती हैं। उसमें कैशिकी और भारती वृत्तियों की ही योजना होती है और नायक नीच वंश का व्यक्ति रहता है। इसके सात अंग हुआ करते हैं।

18. **गोष्ठी**[61]–गोष्ठी के सम्बन्ध में 'साहित्यदर्पण' में कहा गया है–

प्रकृतैर्नवभिः पुंभिर्दशभिर्वाप्यलंकृता।
नोदात्तवचना गोष्ठी कैशिकीवृत्तिशालिनी।।
हीना गर्भविमर्शभ्यां पंचषड्योषिदन्विता।
कामश्रृंगार संयुक्ता स्यादेकाङ्कविनिर्मिता।।[62]

अर्थात् गोष्ठी वह उपरूपक है जिसमें नव या दश साधारण श्रेणी के पुरुषों का चरित्र वर्णित हुआ करता है। इसीलिए इसमें उदात्त वचन नही पये जाते हैं। इसमें कैशिकी वृत्ति ही प्रधान वृत्ति होती है। इसमें पांच या छः स्त्री पात्र आ सकते हैं। सन्धियों में गर्भ और विमर्श का यहाँ कोई स्थान न्हीं रहता है। यहाँ कामश्रृंगार अपेक्षित माना जाता है। इसकी रचना एक अंक में होती हैं।

19. **हल्लीशक**[63]–हल्लीशक के विषय में आचार्य विश्वनाथ लिखते हैं–

हल्लीश एक एवाङ्कः सप्ताष्टौ दश वा स्त्रियः।
वागुदात्तैकपुरुषः कैशिकीवृत्तिरूज्ज्वला
मुखान्तिमौ तथा सन्धी बहुताललयास्थितिः।।[64]

अर्थात् हल्लीश उसे कहते हैं जिसमें एक अंक रहा करता है और सात, आठ या दस स्त्री पात्र हुआ करते हैं। इसका नायक उदात्तवाणी का व्यक्ति होता है। इसमें कैशिकी वृत्ति की अधिकता अपेक्षित होती है। इसमें मुख और निर्वहण केवल दो ही संधियां पर्याप्त मानी हैं। इसमें राग, ताल, लय आदि का प्राचुर्य रहा करता है। हल्लीश को ही अग्निपुराण और अभिनवभारती में हल्लीशक कहा गया है।

20. **काव्य**[65]–काव्य भी एक उपरूपक है जिसके विषय में 'साहित्यदर्पण' में कहा गया है–

काव्यमारभटीहीनमेकाङ्क हास्यसङ्कुलम्।
खण्डमात्राद्विपदिकाभग्नतालैरलंकृतम्।।

वर्णमात्राछड्डणिकायुतं श्रृंगारभाषितम्।
नेता स्त्री चाप्युदात्तात्र सन्धी आद्यौ तथान्तिमः।।[66]

अर्थात् काव्य वह उपरूपक है जिसमें हास्य रस का प्राधान्य रहा करता है। इसमें आरभटी को छोड़कर और सभी वृत्तियाँ अपेक्षित होती है। इसकी रचना एक अंक में की जाती है। इसमें खण्डमात्रा द्विपदिका, भग्नताल आदि गीत भेदों का उपरंजन आवश्यक होता है। इसमें श्रृंगाररस के प्रकाशक वर्णमाला और छडलिका छन्दों से सुन्दरता आया करती है। इसके नायक और नायिका उदात्त प्रकृति के लोग हुआ करते हैं। इसमें मुख और निर्वहण दो ही सन्धियों का निबन्ध आवश्यक माना जाता है।

21. श्रीगदित[67]—श्रीगदित के विषय में आचार्य विश्वनाथ लिखते हैं—

प्रख्यातवृत्तमेकाङ्कं प्रख्यातोदात्तनायकम्।
प्रसिद्धनायिकं गर्भविमर्शाभ्यां विवर्जितम्।।
भारतीवृत्तिबहुलं श्रीतिशब्देन संकुलम्।
मतं श्रीगदितं नाम विद्वद्भिरुपरूपकम्।।[68]

अर्थात् श्रीगदित वह उपरूपक भेद का नाम है जिसका इतिवृत्त प्रख्यात वृत्त का बना हुआ होता है, जिसकी रचना एक अंक में समाप्त होती है और जिसमें किसी प्रख्यात और धीरोदात्त प्रकृति के नायक का चरित्र चित्रित होता है। इसकी नायिका भी प्रख्यात होती है। इसमें गर्भ और विमर्श संधियां नही हुआ करती हैं। भारतीवृत्ति का बाहुल्य रहा करता है। श्रीशब्द का अनेकत्र प्रयोग रहता है।

22. नाट्यरासक[69]—नाट्यरासक के विषय में आचार्य विश्वनाथ लिखते हैं—

नाट्यरासकमेकाङ्कं बहुताललयस्थिति।
उदात्तनायकं तद्वत्पीठमर्दोपनायकम्।।
हास्योऽङ्गयत्र सश्रृङ्गारो नारी वासकसज्जिका।
मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च।
केचित्प्रतिमुखं सन्धिमिह नेच्छन्ति केवलम्।।[70]

अर्थात् नाट्यरासक वह उपरूपक है जिसकी रचना एक अंक में हुआ करती है। इसमें लय और ताल का प्रर्याप्त स्थान और महत्त्व होता है। इसका नायक उदात्त प्रकृति का हुआ करता है। इसमें नायक का सहायक

पीठमर्द भी आवश्यक है। इसमें शृंगार के पुट के साथ–साथ हास्य रस को ही प्रधान रस रखा जाया करता है। इसकी नायिका वासकसज्जा नायिका के रूप में चित्रित की जाती है। इसमें मुख और निर्वहण नाम की दो सन्धियों की ही रचना पर्याप्त मानी जाती है। लास्य के दश अंग इसमें अपेक्षित हैं। कुछ नाट्याचार्यों की दृष्टि से इसमें प्रतिमुख सन्धि नहीं रहा करती है।

23. रासक[71]–रासक के विषय में 'आचार्यविश्वनाथ' लिखते हैं–

रासकं पञ्च पात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम्।
भाषाविभाषाभूयिष्ठं भारतीकैशकीयुतम्।।
असूत्रधारमेकाङ्कं सवीथ्यङ्कं कलान्वितम्।
श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम्।।
उदात्तभावविन्याससंश्रितं चोत्तरोत्तरम्।
इह प्रतिमुखं सन्धिमपि केचित्प्रचक्षते।।[72]

अर्थात् रासक उस रूपक को कहते हैं जिसमें पांच–पांच पात्र रहा करते हैं। इसमें मुख और निर्वहण दो संधियों की रचना होती है। इसमें भाषा और विभाषा दोनों का अधिकाधिक प्रयोग हुआ करते हैं। इसमें भी सूत्रधार नही रहता है। इसकी रचना एक ही अंक में की जाती है। इसमें वीथी के सभी अंगों की योजना आवश्यक मानी जाती है। इसके लिए नृत्य–गीत आदि कलाओं की अपेक्षा हुआ करती है। इसका नान्दी–गायन शिलष्ट कलाओं द्वारा किया जाता है। इसकी नायिका प्रसिद्ध रमणी होती है और नायक कोई मूख पुरुष। इसमें उत्तरोत्तर उदात्त भावों का विन्यास किया जाया करता है। कुछ नाट्याचार्य इसके लिए प्रतिमुख सन्धि की भी रचना आवश्यक मानते हैं। रासक और नाट्यरासक के सम्बन्ध में नाट्याचार्यों का भेदवाद, अभेदवाद और भेदाभेद तीनों मिलते हैं। आचार्य विश्वनाथ भेदवादी दृष्टि के समर्थक हैं।

24. उल्लाप्यक[72]–उल्लाप्यक को ही 'साहित्यदर्पण' में उल्लाप्य कहा गया है। जिसका लक्षण इस प्रकार है–

उदात्तनायकं दिव्यवृत्तमेकाङ्कभूषितम्।
शिल्पकाङ्गैर्युतं हास्यशृंगारकरुणै रसैः।।
उल्लाप्यं बहुसंग्राममस्रगीतमनोहरम्।
चतस्रो नायिकास्तत्र त्रयोङ्का इति केचन।।[74]

अर्थात् उल्लाप्यक वह उप रूपक है जिसमें किसी उदात्त प्रकृति के नायक के चरित्र का चित्र खीचा जाया करता है। इसका वृत्त देवता सम्बन्धी ही हुआ करता है। इसमें एक अंक ही अपेक्षित है। शिल्पक नामक उपरूपक प्रकार के अंक इसमें भी निबद्ध किये जाते हैं। इसमें शृंगार, हास्य और करुण रस का अवतार अपेक्षित माना गया है। इसे सुन्दर बनाने के लिए संग्राम का वर्णन और संगीत के गायन का सहारा लिया जाया करता है। कुछ नाट्याचार्यों ने इसमें चार नायिकाओं का चित्रण और तीन अंको का विधान आवश्यक मानते हैं।

25. **प्रेक्षण**[75]—के विषय में आचार्य विश्वनाथ लिखते हैं—

गर्भावमर्शरहितं प्रेङ्खणं हीननायकम्।
असूत्रधारमेकाङ्कमविष्कम्भप्रवेशकम्।।
नियुद्धसम्फेटयुतं सर्ववृत्तिसमाश्रितम्।
नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचना।।[76]

अर्थात् प्रेक्षण उसे कहते हैं जिसमें नीच प्रकृति का नायक चित्रित किया जाया करता है। इसमें गर्भ और विमर्श दोनों सन्धियाँ नहीं रची जाती है। इसमें सूत्रधार की रचना आवश्यकता नहीं होती है। यह एक अंक की रचना होती है। इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक दोनों में से किसी का प्रयोग नहीं किया जाता है। इसमें नियुद्ध और सम्फेट आवश्यक है। सभी वृत्तियों का प्रयोग अपेक्षित होता है। इसमें नपेथ्य में ही नान्दी गायन किया जाता है और प्ररोचना भी कर दी जाती है। 'अग्निपुराण' के प्रेक्षण को ही यहाँ प्रेखण कहा गया है। क्योंकि शारदातनय भी प्रेखण के लिए प्रेक्षण शब्द का ही प्रयोग किए हैं। अग्निपुराणोक्त दो रूपकों का उल्लेख साहित्यदर्पण में नहीं मिलता है। वे हैं—भाणि और कर्ण। 'दशरूपक' के प्रथम प्रकाश में धनिक के एक उल्लेख में भाणी उपरूपक का उल्लेख किया गया है। वहाँ बताया गया है कि भाणी इत्यादि नृत्य के भेद हैं—

डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासकाः।
काव्य च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत्।।[77]

इस प्रकार भाणी नामक रूपक एक नृत्य विशेष है। कर्ण का यहाँ उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। यही 'अग्निपुराण' के कुल 27 रूपक के प्रकार है। जिन्हें इस नाट्य नामक अध्याय में विधिवत प्रतिपादित किया गया है।

'अग्निपुराण' में नाटक का प्रयोजन बताते हुए लिखा गया है।

त्रिवर्गसाधनं नाट्यमित्याहुः कारण च यत्।[78]

अर्थात् नाटक त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति) का हेतु मूल साधन है। कहने का भाव यह है कि नाटक से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है। पुरुषार्थ चार बताये गये है–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यहाँ केवल मोक्ष को नाटक का फल नहीं माना गया है। इसी कारण से शान्त रस को नाटक में स्वीकार नहीं किया जाता है। दशरूपककार आचार्य धनंजय भी इतिवृत्त के तीन ही फल माने हैं–

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च।[79]

मोक्ष को इतिवृत्त का फल नहीं माना गया है लेकिन कुछ आचार्यो के द्वारा काव्यप्रयोजन के रूप में चतुर्वग प्राप्ति को काव्य का फल बताया गया है। आचार्य भामह कहते हैं–

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीति करोति कीर्ति च साधु काव्य निबन्धनम्।[80]

अर्थात् सत्काव्य का प्रणयन पुरुषार्थ चतुष्टय एवं कलाओं में निपुणता, आनन्द और कीर्ति प्रदान करता है। आचार्य विश्वनाथ लिखते हैं–

चतुर्णवर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेनं तत्स्वरूपं निरुप्यते।।[81]

अर्थात् काव्य एक ऐसी वस्तु है जो अल्पबुद्धि के मानव को बिना किसी कष्ट साधन के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हुआ करती है इसलिए काव्य के स्वरूप का निरुपण किया जा रहा है। यही है नाट्य एवं काव्य का दर्शन।

संदर्भ :

1. नाट्यशास्त्र, 1/118
2. विक्रमोर्वशीयम्, तृतीय अंक का प्रारम्भ
3. वही,
4. अग्निपुराण, 337/1
5. दशरूपक, 1/8
6. साहित्यदपर्ण, 6/1

7. उपाध्याय प. बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 463
8. काव्यालंकारसूत्रवृत्तिम्, 1/3/30–31
9. अष्टाध्यायी, 4/3/129
10. नाट्यशास्त्र, 1/15–16
11. वही, 1/108
12. उत्तररामचरितम्, 1/28
13. साहित्यदर्पण, 3/4
14. अग्निपुराण 337/3–4
15. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/5
16. मालविकाग्निमित्रम्, 1/4
17. अग्निपुराण, 338/1–4
18. साहित्यदर्पण, 6/3
19. साहित्यदर्पण, 6/4–6
20. अभिनवभारती, पृ 407
21. दशरूपक, अवलोक, 1/8
22. वही, 1/7
23. वही, 1/9
24. अग्निपुराण, 338/1
25. नाट्यशास्त्र, 18/10–11
26. अग्निपुराण, 338/1
27. नाट्यशास्त्र, 18/45–46
28. अग्निपुराण, 338/1
29. नाट्यशास्त्र, 18/84
30. अग्निपुराण, 338/9
31. नाट्यशास्त्र, 18/78
32. अग्निपुराण, 338/1
33. नाट्यशास्त्र, 18/63–64
34. अग्निपुराण, 338/1
35. नाट्यशास्त्र, 18/102
36. नाट्यशास्त्र, 18/103–104

37. वही, 18/105
38. अग्निपुराण, 338/2
39. नाट्यशास्त्र, 18/90–91
40. अग्निपुराण, 338/2
41. नाट्यशास्त्र, 18/108–110
42. अग्निपुराण, 338/2
43. नाटयशास्त्र, 18/112–113
44. अग्निपुराण, 338/2
45. नाट्यशास्त्र, 18/14
46. नाट्यशास्त्र, 18/2–3
47. अग्निपुराण, 339/2
48. साहित्यदर्पण, 6/273
49. अग्निपुराण, 338/2
50. साहित्यदर्पण, 6/269–270
51. अग्निपुराण, 338/2
52. साहित्यदर्पण, 6/276–277
53. अग्निपुराण, 338/2
54. साहित्यदर्पण, 6/296/297
55. अग्निपुराण, 338/2
56. साहित्यपर्दण, 6/303–305
57. अग्निपुराण, 338/2
58. साहित्यदर्पण, 6/280–281
59. अग्निपुराण, 338/3
60. साहित्यदर्पण, 6/308–309
61. अग्निपुराण, 338/3
62. साहित्यदर्पण, 2/274–276
63. अग्निपुराण, 338/3
64. साहित्यदर्पण, 6/307
65. अग्निपुराण, 338/3
66. साहित्यदर्पण, 6/284–285

67. अग्निपुराण 338/3
68. साहित्यदर्पण, 6/293–294
69. अग्निपुराण, 338/3
70. साहित्यदर्पण, 6/277–279
71. अग्निपुराण, 338/3
72. साहित्यदर्पण, 6/288–290
73. अग्निपुराण, 338/3
74. साहित्यदर्पण, 6/282–283
75. अग्निपुराण, 338/3
76. साहित्यदर्पण, 6/286–287
77. दशरूपक, अवलोक, 1/8
78. अग्निपुराण, 338/7
79. दशरूपक, 1/16
80. काव्यालकारसूत्र, 1/2
81. साहित्यदर्पण, 1/2

□

तृतीय अध्याय

पूर्वरङ्ग

'पूर्व–पद् पूर्वक 'रञ्ज' आधिकरणार्थक घञ् प्रत्यय लगाकर पूर्वरङ्ग शब्द निर्मित हुआ है। सामान्यतया 'पूर्वारङ्ग यह विग्रह करते हुए रंगमंच पर नाट्य प्रयोग के पूर्व किये जाने वाले अनुष्ठान को पूर्वरङ्ग कहा जाता है। सामान्यतः नाट्य प्रयोग के प्रारम्भ के पूर्व अभिनय की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए जो मांगलिक अनुष्ठान आदि किये जाते हैं उन्हें पूर्वरङ्ग कहते हैं। आचार्य भरत ने पूर्वरङ्ग के विषय में कहा गया है–

यस्माद्रङ्ग प्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयुज्यते।
तस्मादयं पूर्वरङ्ग विज्ञेयो द्विजसत्तमाः।।[1]

अर्थात् नाट्यशाला में नाट्य प्रस्तुति के पूर्व जो प्रयोग किया जाता है वह पूर्वरङ्ग कहा जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने पूर्वरङ्ग की व्युत्पत्तिजन्य अर्थ को ग्रहण किया है तथा नाट्य के पूर्व इसकी महत्ता बतलाते हुए कहा कि जैसे तन्तु, तुरी एवं वेमा के बिना पट का निर्माण सम्भव नही है वैसे ही पूर्वरङ्ग के प्रत्याहारादि अंगों के प्रयोग के बिना गायन आदि का उपक्रम नहीं किया जा सकता है और न ही नाट्य प्रयोग।[2] पूर्वरङ्ग की दूसरी व्याख्या में वार्तिककार के मत को उद्धृत करते हुए 'अभिनवगुप्त' कहते हैं–

श्रीहर्षस्तु रङ्गशब्देन तौर्यत्रिकं ब्रुवन् नाट्याङ्गप्रयोगस्य तस्यैव पूर्व रङ्गतां मन्यमानः पूर्वश्चासौ रङ्गस्य इति समासममंस्त।।[3]

अर्थात् श्रीहर्ष ने रङ्ग शब्द का अर्थ तौर्यत्रिक करते हुए ''पूर्वश्चासौ रङ्ग'' इस विग्रह के अनुसार पूर्व में अनुष्ठित होने वाले तौर्यत्रिक को ही पूर्वरङ्ग माना है। लेकिन 'अभिनवगुप्त' को यह मत स्वीकार नही है उनका

मानना है कि पूर्वरङ्ग मण्डप का कोई एक देशभाग नही है और न नाट्य का अंग है तथा न अनुकरण रूप है। अपितु देवतुष्टि के समान लौकिक–पारलौकिक फल रूप काम होने से 'पूर्वो' रङ्गे इति पूर्वरङ्ग इस प्रकार की व्याख्या मानना अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है। दशरूपकावलोककार आचार्य धनिक लिखते हैं–

पूर्व रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गो नाट्यशाला तत्स्थप्रथम–प्रयोगव्युत्थापनादौ पूर्वरङ्गता तं विधाय विनिर्गते प्रथमं सूत्रधारे तद्वदेव वैष्णवस्थानकादिना प्रविश्यान्यो नटः काव्यार्थं स्थापयेत।[4]

अर्थात् जिसमें पहले सामाजिकों का अनुरञ्जन किया जाता है वह पूर्वरङ्ग कहलाता है। उस रङ्गशाला में जो अभिनय–सम्बन्धी प्रथम प्रयोग व्युत्थापन इत्यादि किया जाता है। वह पूर्वरङ्ग कहलाता है, उस कार्य को करके पहले सूत्रधार निकल जाता है। तब उस सूत्रधार जैसा ही दूसरा अभिनेता (नट) वैष्णव स्थानक नामक चाल से प्रविष्ट होकर काव्यवस्तु की स्थापना करता है। आचार्य विश्वनाथ अपने 'साहित्यदर्पण' में पूर्वरङ्ग के विषय में कहते हैं–

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते।।
प्रत्याहारादि कान्यङ्गन्यस्य भूयांसि यद्यपि।
तथाऽप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये।।[5]

अर्थात् रङ्ग अथवा नाट्यमण्डप की विघ्न–शान्ति के लिए नाट्यप्रयोग के पहले नटों के द्वारा किया गया जो भी माङ्गल्य गायनवादनादि है वह पूर्वरङ्ग कहा जाया करता है। यद्यपि यह पूर्वरङ्ग प्रत्याहार (तन्त्री, भाण्ड समानयन) आदि अनेकानेक क्रियाकलापों का सम्मिलत रूप है किन्तु तब भी इसके प्रमुख अङ्ग नान्दीगायन का अनुष्ठान अवश्य किया जाना चाहिए, क्योंकि अधिकाधिक विघ्नशान्ति का सम्बन्ध नान्दीगायन के ही साथ है। इसीरूप में शारदातनय भी अपने 'भावप्रकाशन' में लिखते हैं–

सभापतिः सभा सभ्या गायका वादका अपि।
नटी नटाश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यानुरञ्जनात्।।
अतो रङ्ग इति ज्ञेयः पूर्वं यत्स प्रकल्प्यते।
तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते।।
कला पादाः पादभागाः परिवर्ताश्चसूरिभिः।

पूर्वं क्रियन्ते यद्रङ्गे पूर्वरङ्गेग भवेदतः।।[6]

अर्थात् सामाजिक जन किंवा अभिनेतृवृन्द के चित्तरञ्जन की उद्भवभूमि का नाम रङ्ग है। नाटक के प्रयोग के पहले गीत किंवा वाद्य–विधान ही वह साधन है जिससे चित्त अधिकाधिक एकाग्र हो सकता है और नाटक के प्रति उन्मुख हो सकता है। 'रङ्ग' में (रङ्गमञ्च पर) संगीत का यह आयोजन ही पूर्वरङ्ग है। प्रत्याहार अथवा मृदङ्गादि वाद्य–यन्त्रों के एकत्रीकरण से आरम्भ कर महाचारि अथवा गायक–वादकों के मण्डलादि प्रचार–पर्यन्त की क्रियाविधि पूर्वरङ्ग की रूपरेखा है। 'अग्निपुराण' में पूर्वरङ्ग के विषय की उपस्थापना करते हुए कहा गया है–

इतिकर्तव्यता तस्य पूर्वरङ्गो यथाविधि।
नान्दीमुखानि द्वात्रिंशदङ्गानि पूर्वरङ्गके ।।
देवतानां नमस्कारो गुरूणामपि च स्तुतिः।
गोब्राह्मणनृपादीनामाशीर्वादादि गीयते।।[7]

अर्थात् पूर्वरंग मैं विधिपूर्वक नान्दी आदि वत्तीस अङ्गों का निर्वाह करना चाहिए। इस स्थल पर देवताओं को नमस्कार, गुरुजनों की प्रशंसा गौ, ब्राह्मण और राजा के आशीष का गायन किया जाता है। पूर्वरंग के रूप में जिन बत्तीस अंगो का उल्लेख किया गया है उसमें पांच प्रकार की नान्दी, नान्दी के वाद पांच निर्देश तीन प्रकार के आमुख, दो प्रकार के इतिवृत्त, पांच अर्थप्रकृतियाँ, पांच चेष्टाएं, पांच सन्धियाँ और देश काल का संकलन। इन बत्तीस अंगों का पूर्वरङ्ग में निर्वाह करना चाहिए। लेकिन इतिवृत्त अर्थप्रकृतियाँ, चेष्टाओं, सन्धियों एवं देशकाल का वर्णन वस्तु नामक अध्याय में किया जायेगा। इस अध्याय के अन्तर्गत पूर्वरङ्ग के रूप में नान्दी एवं निर्देश तथा आमुख के सन्दर्भ में विचार प्रस्तुत है क्योंकि पूर्वरंग के रूप में यहाँ इन्ही तत्वों का ग्रहण अपेक्षित है।

पूर्वरङ्ग के रूप में प्रथमतः नान्दी का स्थान आता है। भारतीय परंपरा के अनुसार प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारंभ में इष्ट का स्मरण किया जाता है। उसी परम्परा का पालन नाटकों में नान्दी के द्वारा किया जाता है। नाटकों में जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि पांच प्रकार से नान्दी गायन किये जाते हैं–1. देवता को नमस्कार, 2. गुरुजनों की प्रशंसा, 3. गौ, 4. ब्राह्मण, 5. राजा का आशीष गायन। इन पञ्चविध नान्दी गायन का उल्लेख अग्निपुराण में किया गया है। आचार्य विश्वनाथ अपने 'साहित्यदर्पण' में नान्दी के

सम्बन्ध में लिखते हैं–

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता।।
माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत।।[8]

अर्थात् देव, द्विज, नृप आदि की ऐसी स्तुति गीत है जिसमें रङ्ग समाजिकों की शुभाशंसा का अभिप्राय गर्भित रहा करता है। इस नान्दीगीत के लिए यह अपेक्षित है कि इसके द्वारा शंख, चक्र, पद्म, चक्रवाक, कैरव आदि मङ्गलास्पद वस्तुओं की अभिव्यञ्जना हो जाय। यह अष्टपदा वा द्वादशपदा रहा करती है। यदि नान्दी शब्द की व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार किया जाय–'नन्दयति देवादीन् स्तुत्या, आनन्दयति च सभ्यान् सतुत दैवप्रसादादिति नान्दी,' तो उसका अर्थ यह होता है कि देवताओं और सभ्यजनों की स्तुति प्रसन्नता के लिए की जाती है तो वह नान्दी कहलाती है। उक्त नान्दी लक्षण वस्तुतः आशीर्वचन नान्दीलक्षण से युक्त है। नाट्याचार्य भरतमुनि पूर्वरंग युक्त नान्दी का उल्लेख नही करते हैं लेकिन 'अग्निपुराण' में नान्दीयुक्त पूर्वरंग का वर्णन किया गया है। परन्तु कुछ आचार्यों के द्वारा इसे पूर्वरङ्ग के रूप में ही ग्रहण किया जाता है–

यस्मादभिनयो ह्यत्र प्राथम्यादवतार्यते।
रङ्गद्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गभिनयात्मकम्।।[9]

अर्थात सामाजिकों के लिए आशीर्वचन (नान्दी) के पूर्व ही रंगशाला में जो नाट्यारम्भ के लिए नटों द्वारा देवादि स्तुति रूप वाचिक किंवा आङ्गिक अभिनय किया जाया करता है। वह रंग द्वार नामक पूर्वरंग का अंग है। इस प्रकार यहाँ यह सिद्ध हो गया है कि नाटक के पूर्व जिस क्रिया विधान का सम्पन्न किया जाता है वही पूर्वरंग है और उस पूर्वरङ्ग में नान्दी का प्रथम स्थान है क्योंकि वह नाट्य का द्वार है। 'अग्निपुराण' में उसी नान्दी के पांच भेद बतलाये गये हैं। नान्दी पाठ के अनन्तर मञ्च पर सूत्रधार का आगमन होता है और उसके द्वारा पांच निर्देश भी दिये जाते हैं। 'अग्निपुराण' में कहा गया है–

नाद्यन्ते सूत्रधारोऽसौ रूपकेषु निबध्यते।
गुरुपूर्वकर्म वंशप्रशंसा पौरूषं कवेः।।
सम्बन्धार्थौ च काव्यस्य पञ्चैतानेष निर्दिशेत्।[10]

अर्थात् रूपकों में नान्दी के पश्चात् सूत्रधार का समावेश किया जाता है। उस सूत्रधार को पांच बातों का निर्देश करना चाहिए—कवि की गुरूपरम्परा, वंशोल्लेख, पौरूष (काव्यशक्ति) रूपक की पूर्वकथा का सम्बन्ध और प्रयोजन। सूत्रधार के यह पांचों निर्देश नाटकार एवं नाटक की महनीयता से सम्बन्धित होता है। नान्दी पाठ के बाद में जब सूत्रधार मंच पर आता है तो सभी की जिज्ञासा नाटककार एवं नाटक के विषय में जानने की होती है इसीलिए अग्निपुराणकार ने इन पांच बातों का निर्देश सूत्रधार के द्वारा कराने का विधान करता है। प्रथम कवि की गुरूपरम्परा—इससे कवि के ज्ञान वैभव के अधिकारी का ज्ञान होता है। द्वितीय—वंश वर्णन से कवि का कुल तथा व्यक्तिगत जीवन पर दृष्टिपात सूत्रधार द्वारा किया जाता है। तृतीय—नाटककार के प्रतिभा शक्ति पर विचार किया जाता है। चतुर्थ—निर्देश रूप में अभिनय किये जाने वाले नाटक का नाम आता है अर्थात् नाट्य परिचय करना होता है। नाट्य की जो कथा वस्तु होती है उसका सहृदय के लिए निर्देश रूप देना आवश्यक होता है और अन्त में पांचवे निर्देश में नाट्य प्रयोजन आता है, नाट्य प्रयोजन का निर्देश बहुत आवश्यक होता है क्योंकि इसके बिना किसी की नाट्य में प्रवृत्ति नहीं होती है। यह पांचो निर्देश सूत्रधार के द्वारा पूर्वरंग के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

पूर्वरङ्ग का मुख्य प्रयोजन रङ्ग के विघ्नों का उपशमन ही है। इसके अनुष्ठान से नाट्य प्रयोग में मांगलिकता की सिद्धि और प्रेक्षकों की नाट्यावलोकन के अनुरूप मनःस्थिति का निर्माण होता है। इसी परिप्रेक्ष्य में आचार्यभरत ने प्रेक्षकों की तुष्टि को ही पूर्वरंग का मुख्य प्रयोजन माना है।[11] इसके अतिरिक्त पूर्वरङ्ग के अनुष्ठान से नाट्य प्रयोग करने वाले नटों का भी प्रयोगानुकूल अभ्यास और प्रयोग के अनुरूप प्रेक्षकों के साथ उनके संवाद की स्थिति बनती है। इन्ही नान्दी गान के अनन्तर सूत्रधार मञ्च पर आता है। जो नाट्य—प्रयोग के लिए सूत्र को धारण करता है या संचालित करता है उसे सूत्रधार कहते हैं या रंगमंच पर होने वाले प्रयोग को नियमित रूप से धारण करने के कारण उसे सूत्रधार कहा जाता है। सूत्रधार रंगमंच पर उपस्थित होकर नाटक का आरम्भ करता है, पात्रों को आवश्यक निर्देश देता है और मध्यम स्वर से नान्दी का पाठ करता है। नाट्य के विभिन्न उपकरणों को सूत्र कहते हैं जो सूत्र को धारण करता है, संभालता है उसे सूत्रधार कहते हैं—

नाट्योपकरणादीनि सूत्रामित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयतीत्यर्थ सूत्रधारो निगद्यते।।[12]

इसी रूप में शारदातनय के अनुसार नान्दीपाठ के अन्त में काव्यनिक्षिप्त कथावस्तु, नायक, रस आदि को जो सूत्र रूप में धारण करता है, उसे सूत्रधार कहते हैं–

सूत्रयन् काव्यनिक्षिप्तवस्तुनेतृकथारसान्।
नान्दीश्लोकेन नान्द्यन्ते सूत्रधार इति स्मृतः।।[13]

वस्तुतः सम्पूर्ण नाट्य व्यवस्था को संचालक सूत्रधार ही होता है। वह रंगमंच को सजाने में निपुण, चार प्रकार के वाद्यों के विधान को जानने वाला, वाक्पटु, प्रिय बोलने वाला, गीत तथा ताल का ज्ञाता होता है। वह रंग देवता का पूजा करता है और नाटक के सूत्र को संभालता है। सूत्रधार नाटकीयपात्रों, नेता और नाट्य–प्रयोगों का निर्देशक तथा नाट्कीय गतिविधियों का कुशल संचालक होता है वह नाटक की कथा सूत्र प्रस्तुत करने के लिए रंगमंच पर उपस्थित होता है। वह प्रयोग की समस्त अवस्थाओं का सम्भालने वाला एक विशेष पात्र होता है जिसके सभी कार्य सफल नाट्य अभिनय के रूप में प्रतिस्थापित होते हैं।

'नाट्यशास्त्र' के अनुसार सूत्रधार रस, भाव, ताल, लय, गान, पाठ्य, नाट्य प्रयोग, अभिनय आदि का ज्ञाता, सभी प्रकार के वाद्यों के वादन में कुशल, सभी प्रकार की वेश–भूषा को धारण का ज्ञाता, नीतिशास्त्र का मर्मज्ञ, कामशास्त्र का पारखी, मधुर भाषी, नाना शिल्पकला में कुशल इत्यादि गुणों से युक्त होता है। कहने का भाव है कि नाट्य प्रयोग से सम्बन्धित सभी विषयों का ज्ञाता सूत्रधार होता है। उसका अनुभव एवं ज्ञान दोनों मिलकर नाट्याभिनय को पूर्णावस्था तक पहुंचाते हैं। इन अभिनयात्मक गतिविधियों के अतिरिक्त सूत्रधार में स्मृति, प्रज्ञा, उदारता, धैर्य, सहनशीलता, सत्यवादिता, प्रियवादिता, पवित्रता आदि गुण भी स्वाभाविक रूप से प्राप्त होते हैं। 'अग्निपुराण' में आमुख के विषय में कहा गया हैं–

नटी विदूषको वाऽपि पारिपार्श्वक एव च।
सहिताः सूत्रधारेण संलापं यत्र कुर्वते।।
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्यार्थे प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुख्यं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनाऽपि सा।।
प्रवृत्तकं कथोद्‌घातः प्रयोगातिशयस्तथा।।[14]

अर्थात् जहाँ सूत्रधार के साथ नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक स्वकार्यसिध्यर्थ चमत्कृत वाक्यों से परस्पर चर्चा करते हैं। नाटक के उसी स्थल को आमुख्य कहते हैं। विद्वानों ने इसे प्रस्तावना भी कहा है, इसके तीन भेद है–प्रवृत्तक, कथोद्घात और प्रयोगातिशय। आमुख का नाट्य प्रयोग में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है इसीलिए 'अग्निपुराण' में इस स्थल को जोर देकर प्रतिपादित किया गया है। यहाँ सूत्रधार के सहकर्मी अपने कार्य व्यापार के लिए चित्र–विचित्र वाक्यों से वार्तालाप करते हैं। इसके विषय में 'साहित्यदर्पण' में प्रतिपादन किया गया है–

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते।।
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा।।[15]

अर्थात् रूपकों की प्रस्तावना वस्तुतः उनका वह आमुख है जिसमें नटी अथवा पारिपार्श्विक (सूत्रधार का अनुचर नट) सूत्रधार के साथ ऐसा आलाप–संलाप किया करते हैं, जिसमें प्रस्तुत अभिनय का आक्षेप करने वाले स्व–स्वविषयक अभिप्राय सूचक चित्र–विचित्र वाक्यों का प्रयोग हुआ करता है। 'साहित्यदर्पण' में प्रस्तावना के पांच भेदों का उल्लेख मिलता है–

उद्घात्यकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा।
प्रवर्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः।।[16]

अर्थात् उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवलगित ये प्रस्तावना के पांच भेद हैं। 'नाट्यशास्त्र' में भी प्रस्तावना के पांच भेदों का ही उल्लेख मिलता है–

आमुखाङ्गन्यतो वक्ष्ये यथावदनुपूर्वशः।
उद्घात्यक कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा।।
प्रवृत्तकावलगिते पञ्चाङ्गान्यामुखस्य तु।।[17]

यहाँ एक तथ्य ध्यान देने योग्य हैं कि 'अग्निपुराण' में जिस आमुख या प्रस्तावना के तीन भेद–प्रवृत्तक, कथोद्घात और प्रयोगातिशय बताये गये हैं उन्हीं भेदों के रूप में 'साहित्यदर्पण' एवं 'नाट्यशास्त्र' पांच भेदों का उल्लेख किया गया है। आचार्य भरत प्रस्तावना को आमुख तथा स्थापना भी कहते हैं। उनके मत में प्रस्तावना, आमुख एवं स्थापना एक ही वस्तु है। आचार्य धनञ्जय शारदातनय के अनुसार सूत्रधार नटी, विदूषक अथवा

पारिपार्श्विक के साथ प्रस्तुत तत्त्व का आक्षेप करते हुए चित्र–विचित्र उक्तियों से जो अपने कार्य का वर्णन करता है, उसे आमुख कहते हैं–

सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाऽथ विदूषकम्।
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम्।।
प्रस्तावना वा।[18]

'अग्निपुराण' के अनुसार ही आचार्य धनञ्जय और शारदातनय भी आमुख के तीन भेद स्वीकार करते हैं–प्रवृत्तक, कथोद्घात और प्रयोगातिशय।[19] जिनका वर्णन क्रमशः किया जा रहा है।

प्रवृत्तक प्रस्तावना के सम्बन्ध में 'अग्निपुराण' में कहा गया है–

कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत्।
तदाश्रयस्य पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवृत्तकम्।।[20]

अर्थात् जहाँ सूत्रधार किसी तत्कालीन चरित्र का आश्रय लेकर वर्णन करे और इस वर्णन के साथ ही तत्सम्बद्ध पात्र का प्रवेश हो तो वह प्रस्तावना प्रवृत्तक कहलाती है। इसी तरह आचार्य धनञ्जय कहते हैं–

कालसाम्यसमाक्षिप्तप्रवेशः स्यात्प्रवृत्तकम्।[21]

अर्थात् जहाँ काल (ऋतु) के वर्णन की समानता के द्वारा पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाती है वह प्रवृत्तक होता है। इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथ भी कहते हैं–

कालं प्रवृत्तमाश्रित्य–सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत।
तदाश्रयस्य पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रर्वतकम्।।[22]

अर्थात् प्रवृत्तक वह प्रस्तावना का प्रकार है जिसमें सूत्रधार नाट्य प्रयोग के समय वसन्त आदि ऋतु का वर्णन किया करता है और पात्र उस वर्णन की श्लेषभंगी के आधार पर रंगमंच पर आ पहुँचता है। 'नाट्यशास्त्र' में आचार्य भरत लिखते हैं–

कालं प्रवृत्तिमाश्रित्य वर्णना या प्रयुज्यते।
तदाश्रयाच्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवृत्तकम्।।[23]

कथोद्घात प्रस्तावना के सम्बन्ध में 'अग्निपुराण' में कहा गया है–

सूत्रधारस्य वाक्यं वा यत्र वाक्यार्थमेव वा।
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातः स उच्यते।।[24]

अर्थात् जहाँ पर सूत्रधार के वाक्य को अथवा उसके वाक्यार्थ को दोहराता हुआ कोई पात्र प्रवेश करे तो उसे कथोद्घात प्रस्तावना कहा

जाता है। दशरूपककार लिखते हैं–

स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः।
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधैव सः।।[25]

अर्थात् जहाँ पात्र अपनी कथावस्तु से समानता रखने वाले सूत्रधार के वाक्य या वाक्यार्थ को लेकर प्रविष्ट हो जाता है। वह दो प्रकार का कथोद्घात होता है। आचार्य विश्वनाथ इसी को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–

सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा।
भवेत्पात्रप्रवेशश्चेत्कथोद्घातः स उच्यते।।[26]

अर्थात् कथोद्घात वह प्रस्तावना भेद हैं जिसमें सूत्रधार के प्रयुक्त वाक्य का उच्चारण करते हुए या उसके अर्थ का अनुशीलन करते हुए किसी पात्र का रंगमंच पर प्रवेश हुआ करता है। कथोद्घात की निरूक्ति करते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं–

कथा काव्यार्थरूपा (उत्) उर्ध्वमेव हन्यते गम्यते तत्रेति कथोद्घातः।[27]

अर्थात् कथोद्घात को कथोद्घात इसलिये कहा जाता है क्योंकि इसमें कथा अथवा काव्यार्थ का पहले ही पता चल जाता है।

प्रयोगातिशय प्रस्तावना के सम्बन्ध में 'अग्निपुराण' में कहा गया है–

प्रयोगेषु प्रयोगं तु सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत।
ततश्च प्रविशेत्पात्रं प्रयोगातिशयो हि सः।।[28]

अर्थात् नाटकों की प्रस्तावना में जब सूत्रधार अपने अभीष्ट कर्त्तव्य का सम्पादन कर चुका हो तब पात्र का प्रवेश हो तो वह प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना कहलाती है। आचार्य विश्वनाथ का इसके सम्बन्ध में मानना है–

यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते।
तेन पात्रप्रवेशश्चेत्प्रयोगातिशयस्तदा।।[29]

अर्थात् प्रयोगतिशय उस प्रस्तावना को कहते हैं जहाँ सूत्रधार स्वयं आरब्ध प्रस्तावना रूप कृत्यानुष्ठान का अतिक्रमण करके नाट्यात्मक प्रयोग प्रस्तुत कर दिया करता है। आचार्य भरतमुनि प्रयोगातिशय को परिभाषित करते हुए लिखते हैं–

प्रयोगे तु प्रयोगं तु सूत्रधारः प्रयोजयेत्।
ततश्च प्रविशेत्पात्रं प्रयोगातिशयो हि सः।।[30]

अर्थात् जहाँ सूत्रधार प्रस्तावना रूप एक प्रयोग अथवा कृत्यानुष्ठान में नाट्यात्मक अन्य प्रयोग अथवा कृत्यानुष्ठान कर दे और पात्र का प्रवेश हो वहाँ प्रस्तावना हुआ करती है वह प्रयोगातिशय प्रस्तावना कही जाती है। आचार्य धनंजय भी इसके विषय में लिखते हैं–

एषोऽयमित्युपक्षेपात्सूत्रधारप्रयोगतः।
पात्रप्रवेशो यत्रष प्रयोगातिशयो मतः।।[31]

अर्थात् यह वह प्रस्तावना है जिसमें सूत्रधार के वचन से सूचित होकर जहाँ पात्र का प्रवेश होता है वहाँ प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना होती है।

आचार्य अभिनवगुप्त के मत में सूत्रधार पूर्वरङ्ग का प्रयोग कर रंगमंच से चला जाता है। पुनः वही स्थापक के रूप में प्रवेश कर सामाजिक के हृदय में रूपक की कथावस्तु का बीज आरोपित करता है। उनके अनुसार प्रस्तावना दो प्रकार की होती है–एक पूर्वरङ्ग की अंगभूता प्रस्तावना और दूसरी अन्य पर आश्रित। जहाँ पूर्वरङ्ग के विधान को काव्य के अभिमुख ले जाया जाता है, वहाँ पूर्वरंग की अंगभूता प्रस्तावना होती है और जहाँ पूर्वरंग की विधि के अभिमुख काव्य का आरम्भ होता है वहाँ अन्य अंगभूता प्रस्तावना होती है।

संदर्भ :

1. नाट्यशास्त्र, 5/7
2. अभिनवभारती, भाग–1, पृ. 209
3. वही, पृ. 209
4. दशरूपक, अवलोक, 3/2
5. साहित्यदर्पण, 6/22–23
6. भावप्रकाशन, अधिकार–7
7. अग्निपुराण, 338/8–9
8. साहित्यदर्पण, 6/24–25
9. भावप्रकाशन,
10. अग्निपपुराण, 338/10–11
11. नाट्यशास्त्र, 36/12
12. द्विवेदी, पारसनाथ, नाट्यशास्त्र का इतिहास, पृ. 401
13. भावप्रकाशन, दशम अधिकार–10
14. अग्निपुराण, 338/11–13

15. साहित्यदर्पण, 6/31–32
16. वही, 6/33
17. नाट्यशास्त्र, 20/32–33
18. दशरूपक 3/7–8
19. वही, 3/8–9 भावप्रकाशन, पृ.
20. अग्निपुराण, 338/14–15
21. दशरूपक, 3/10
22. साहित्यदर्पण 6/37
23. नाट्यशास्त्र, 20/37
24. अग्निपुराण, 338/15–16
25. दशरूपक, 3/9
26. साहित्यदर्पण, 6/35
27. अभिनवभारती, पृ. 94
28. अग्निपुराण, 338/16–17
29. साहित्यदर्पण, 6/36
30. नाट्यशास्त्र, 20/36
31. दशरूपक, 3/11

चतुर्थ अध्याय

वस्तु–विधान

वस्तु शब्द वस् + तुन धातु से निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ वस्तुतः, विद्यमान चीज, वास्तविक, वास्तविकता होता है।[1] परन्तु 'नाट्यशास्त्र' में वस्तु शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है। महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में वस्तु शब्द का प्रयोग करते हुए लिखते हैं–

अद्य खलु कालिदासग्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः।[2]

अर्थात् आज हमे कालिदास के द्वारा विरचित 'कथानक' वाले 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामक नवीन नाटक के साथ उपस्थित होना है। यहाँ वस्तु का प्रयोग कथावस्तु के अर्थ में किया गया है। यही अर्थ नाट्य साहित्य में मान्य है। 'अग्निपुराण' में इसी को इतिवृत्त कहा गया है–

शरीरं नाटकादीनामितिवृत्तं प्रचक्षते।[3]

अर्थात् नाटक के इतिवृत्त (कथानक) को शरीर कहा जाता है। इसी तथ्य का प्रतिपान आचार्य भरत अपने 'नाट्यशास्त्र' में करते हैं–

इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्।[4]

अर्थात् इतिवृत्त को नाट्य (रूपक) का शरीर माना जाता है। आचार्य भरत भी वस्तु को इतिवृत्त ही कह रहे हैं और उनके द्वारा यह प्रयोग 'नाट्यशास्त्र' के अन्य स्थानों पर भी मिलता है।[5] जिस प्रकार मनुष्य को शरीर के कारण दृश्यता प्राप्त होती है उसी प्रकार इतिवृत्त (कथानक) के योग से ही नाट्य का दृश्य स्वरूप प्राप्त होता है। यही दृश्यता के तत्त्व ही रूपकत्त्व का बोध कराते हैं। इस प्रकार रूपक के सम्पूर्ण दृश्य रूप को इतिवृत्त कहा जाता है। वस्तुतः इतिवृत्त का अर्थ भी घटना, कथा, कहानी

है। यहाँ इतिवृत्त से अभिप्राय सम्पूर्ण कथानक से है जो दृश्य रूप में दृष्टिगोचर होता है।

कवि का जब कोई भाव पुंज होकर नाटक का रूप ग्रहण करता है तो वह किसी कथानक का ही आश्रय लेता है, जिसका मञ्चन के द्वारा सहृदय आस्वाद लेता है। यही तो नाट्य की महनीयता है कि अन्य काव्य विधा का रसास्वादन हम श्रोतेन्द्रिय से प्राप्त करते हैं परन्तु नाट्य का आस्वादन श्रोतेन्द्रिय के साथ–साथ नेत्रेन्द्रिय से भी लेते हैं। यही नाट्य की विलक्षणता सबको रञ्जित करती है। जिसके इतिवृत्त (कथानक) का 'अग्निपुराण' में दो भेद स्वीकार किये जाते हैं–

सिद्धमुत्प्रेक्षितं चेति तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।
सिद्धमागमदृष्टं च सृष्टमुत्प्रेक्षितं कवेः।।[6]

अर्थात् इतिवृत्त के दो भेद हैं–सिद्ध और उत्प्रेक्षित। आगम शास्त्र से प्राप्त कथानक सिद्ध कहलाता है और कवि कल्पना प्रसूत कथानक को उत्प्रेक्षित कहा जाता है। आगम शब्द का प्रयोग वेद और शास्त्र दोनों के लिए होता है। लेकिन यहां इसका अभिप्राय प्रसिद्ध इतिवृत्त से है। प्रसिद्ध इतिवृत्त वैदिक, शास्त्रीय, पौराणिक, ऐतिहासिक हो सकता है। इसीलिए तो ऋग्वेद के पुरूरवा–उर्वशी सम्वाद[7] के आधार पर महाकवि कालिदास के द्वारा 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक लिखा गया है। आगम के सम्बन्ध में किरातार्जुनीयम् महाकाव्य में कहा गया है–

न्यायनिर्णीतसारत्वान्निरपेक्षमिवागमे।[8]

महाकवि कालिदास भी इसी अर्थ को प्रमाणित करते हुए अपने 'रघुवंश' महाकाव्य में लिखते हैं–

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानाः सिद्धिहेतवः[9]

उत्प्रेक्षित का अभिप्राय कल्पना आधारित इतिवृत्त है। इस प्रकार का इतिवृत्त प्रकरण में ही पाया जाता है। जैसे महाकवि शुद्रक विरचित 'मृच्छकटिकम्'। आचार्य धनञ्जय अपने 'दशरूपक' में इतिवृत्त (वस्तु) को प्रथम दो भागो में विभाजित करते हुए कहते हैं–

वस्तु च द्विधा। तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः।[10]

अर्थात् वस्तु दो प्रकार की होती है। उनमें मुख्य कथावस्तु को अधिकरिक और अङ्गरूप वस्तु को प्रासंगिक वस्तु कहते हैं। नाटक का फल अधिकार कहलाता है और उस फल का भोक्ता–नायक अधिकारी होता है। अधिकारी

से सम्बन्ध रखने वाली कथा आधिकारिक कहलाती है। वही नाटक की मुख्य कथा होती है, जिसके दो भेद अग्निपुराणकार ने माना है। किन्तु नाटक में ऐसी अन्य भी कथाएं हुआ करती हैं जो गौण हुआ करती है और विशेष स्थिति में मूलकथा को सहायता पहुँचाया करती हैं। इन्हें ही प्रासंगिक कहा जाता है। ये प्रासंगिक कथाएं भी दो प्रकार की होती हैं–बड़ी कथा–जो दूर तक चला करती है और मूलकथा–को बहुत अधिक सहायता प्रदान करती है। छोटी कथाएं–जो किसी विशेष अवसर पर आकर मुख्य कथा की सहायक बनकर समाप्त हो जाती है। इसमें प्रथम को पताका और द्वितीय को प्रकरी कहा जाता है। जिसे आचार्य धनञ्जय के शब्दों में इस रूप में देखा जा सकता है–

अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम्।।
प्रासङ्गिंक परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः
सानुबन्धं पताख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्।[11]

इस प्रकार आधिकारिक कथा को ही मूल इतिवृत्त माना जाता है। उसीकी श्रीवृद्धि अन्य कथाएं करती हैं। आधिकारिक कथानक के विषय में आचार्य धनंजय का मत अग्निपुराण से भिन्न है। 'अग्निपुराण' में उसके दो भेद–आगम और उत्प्रेक्षित बताएं गये हैं। लेकिन धनञ्जय के इतिवृत्त का विषय प्रायः पौराणिक या ऐतिहासिक अथवा नाटककार के कल्पना पर आधारित या पुनः उसका कुछ अंश ऐतिहासिक और कुछ अंश काल्पनिक होने से तीन प्रकार का बताया गया है–

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम्।।
मिश्र च सङ्करात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः।[12]

अर्थात् वह वस्तु प्रख्यात, उत्पाद्या और मिश्र भेद से तीन प्रकार का होता है। इतिहासादि से लिया गया इतिवृत्त प्रख्यात, कवि द्वारा स्वयं कल्पित उत्पाद्य तथा इन दोनों के मिश्रण से मिश्र कहलाता है। नाटककार के लिए विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है कि इन्हीं इतिवृत्तों से सम्बन्धित नाट्य की रचना होनी चाहिए। नाटक के प्रख्यात इतिवृत्त के प्रयोग से लोकप्रियता बढ़ जाती है एवं दर्शकों में रमणीयता बनी रहती है। हमारे प्राचीन ग्रन्थ रामायण, महाभारत, पुराण एवं बृहत्कथा आदि जैसे

आख्यान पर आधारित नाटकीय इतिवृत्त का पल्लवन नाटक का आवश्यक अंग है। इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त और आचार्यभट्टतौत समान धर्मी प्रतीत होते हैं। उनका मानना है कि नाटक की प्रदर्शनीय वस्तु तो प्रसिद्ध होनी चाहिए परन्तु इन घटनाओं के सम्बन्ध लोक प्रसिद्ध नायक को लोक प्रसिद्ध स्थान पर ही प्रदर्शित करना चाहिए। अतः यह स्पष्ट है कि नाटक के इतिवृत्त अर्थात् वस्तु, विषय या देश, नायक, रस ये चारों प्राख्यात होने चाहिए क्योंकि यही नाट्य के प्रधान अंग हैं। जब प्रधान अंग प्रसिद्ध होगा तभी नाट्य भी प्रसिद्ध होगा। हमारे लोक का आकर्षण प्रथमतः प्रसिद्धि पर ही टिकता है। जहाँ प्रसिद्धि होगी वहाँ आकर्षण होगा।

इसके अनन्तर 'अग्निपुराण' में नाट्य प्रसिद्ध पांच अर्थ प्रकृतियों एवं पांच कार्यावस्थाओं का वर्णन किया गया है–

बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्च चेष्टा अपि क्रमात्।।
प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च प्राप्तिः सद्भाव एव च।
नियता च फलप्राप्तिः फलोयोगश्च पञ्चमः।।[13]

अर्थात् नाटक की अर्थप्रकृतियाँ पांच हैं–बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य और इनकी चेष्टाएँ (कार्यवस्थाएं) भी पांच प्रकार की होती है–प्रारम्भ, प्रयत्नः, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम। वस्तुतः अर्थप्रकृति फल के साधन या उपाय होते हैं।

अर्थप्रकृतियाँ

आचार्यों द्वारा इसे प्रयोजन सिद्धि का हेतु भी कहा गया है–

अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धिहेतवः।[14]

अवस्था का सम्बन्ध कथा के विकास क्रम से है तथा अर्थप्रकृति का सम्बन्ध कथावस्तु के उपदान कारणों से होता है। अवस्था मूलक भेदों का विकास पात्रों के मानसिक दशाओं के आधार पर तथा उपायमूलक अर्थप्रकृति का इतिवृत्त की शारीरिक रचना के आधार पर होती है। इस प्रकार अवस्था मूलक एवं उपायमूलक दोनों भेदों से इतिवृत्त की आन्तरिक और बाह्य प्रवृत्तियों का समन्वय होता है। यही उपाय मूलक अर्थप्रकृतियां पांच बतायी गयी हैं–बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। आचार्य भरत इन पांच अर्थप्रकृतियों के सम्बन्ध में कहते हैं–

इतिवृत्ते यथावस्थाः पञ्चारम्भादिकाः स्मृताः।
अर्थप्रकृतयः पञ्च तथा बीजादिका अपि।।[15]

बीज

यह कथावस्तु का महत्त्वपूर्ण अंश है इसके सम्बन्ध में 'अग्निपुराण' में भी कहा गया है—

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यत्प्रसर्पति।
फलावसानं यच्चैव बीजं तदभिधीयते।।[16]

अर्थात् जहां संकेत मात्र से ही फल प्राप्ति तक की समस्त कथावस्तु ज्ञात सी हो जाय उस अर्थप्रकृति को बीज कहते हैं। यह अपने अर्थानुरूप ही इतिवृत्त का वह आरम्भिक अंश है जो किसी संवेदना या प्रयोजन के बिना घटित होकर क्रमशः प्रसार करता हुआ फलप्राप्ति के रूप में समाप्त होता है। इसके विषय में दशरूपककार कहते हैं—

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा।[17]

अर्थात् उस फल (त्रीवर्गफल) का निमित्त बीज कहलाता है। जिसका आरम्भ में सूक्ष्म रूप से संकेत किया जाता है और आगे अनेक प्रकार से विस्तार होता है। यही बात 'साहित्यदर्पण' में भी कही गयी है—

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते।।[18]

यथा—रत्नावली नाटिका के आरम्भ में भाग्य से उपकृत अमात्य यौगन्धरायण के व्यापार का जो वर्णन है। जिस पर वत्सराज उदयन की सागरिका—प्राप्ति निर्भर है। वह बीज रूप अर्थप्रकृति की योजना है।

बिन्दु

यह बिन्दु वस्तु का वह महत्त्वपूर्ण अंश है जो इतिवृत्त के अन्त तक विद्यमान रहता है। यह प्रयोजन में विच्छिन्नता आने पर भी वस्तुबन्ध की समाप्ति तक पहुंचता है। आचार्यों ने इसे जल में फैले तैल बिन्दु के समान माना है। आचार्य धनञ्जय का कहना है—

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्।[19]

अर्थात् अवान्तर प्रयोजन की समाप्ति से कथावस्तु के मुख्य प्रयोजन में विच्छेद प्राप्त हो जाने पर जो उसके अविच्छेद (सातत्य) का कारण होता है वह

बिन्दु कहलाता है। यही बात आचार्य विश्वनाथ भी लिखते हैं–

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्।[20]

अर्थात् बिन्दु वह अर्थ प्रकृति है जिसे रूपक–प्रबन्धों के अवान्तर वृत्त–विच्छेद की संभावना में अविच्छेद का कारण कहा गया है। बीज और बिन्दु में अन्तर यह है कि बीज मुख सन्धि से अपना उन्मेष करता है और बिन्दु मुखसन्धि के बाद, परन्तु दोनों ही समस्त इतिवृत्त में व्याप्त रहते हैं। यथा 'रत्नावली' का प्रसंग जहाँ सागरिका की कामपूजा समाप्त होने पर वृत्त–विच्छेद सम्भव है किन्तु उसके वाक्य सुनने के बाद सागरिका की इस उक्ति से कि 'क्या ये ही महाराज उदयन' आदि अग्रिम इतिवृत्त अविछिन्न रूप से चल पड़ता है।

पताका

जो पताका की तरह एक देशिनी होकर भी समस्त इतिवृत्त को आलोकित करे वह पताका है। आचार्य विश्वनाथ इसके सम्बन्ध में लिखते हैं–

व्यापि प्रासङ्‌िकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते।[21]

अर्थात् पताका वह प्रासंगिक इतिवृत्त है जो व्यापक हुआ करता है और प्रधान फल का सहायक बनता है। दशरूपककार के शब्दों में **"सानुबन्धं पताकाख्यं"**[22] अर्थात् अनुबन्ध सहित (दूर तक चलने वाला) प्रासंगिक इतिवृत्त पताका कहलाता है। यथा–रामचरित सम्बन्धी रूपकों में सुग्रीवादि सम्बन्धी वृत्तान्त अथवा 'वेणीसंहार' में भीमसेन सम्बन्धी वृत्तान्त या अभिज्ञानशाकुन्तल में विदूषक सम्बन्धी वृत्तान्त।

प्रकरी

यह आनुषंगिक कथा होती है। कथावस्तु के किसी सीमित प्रदेश में ही इसका उपयोग रहता है। यह कथा के प्रधानवत नही होती है। इसके सम्बन्ध में 'साहित्यदर्पण' में लिखा गया है–

प्रासङ्‌िगकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता।[22]

अर्थात् प्रकरी वह अर्थप्रकृति है जिसे रूपक–प्रबन्धों के अल्पदेश व्यापक प्रासङ्गिक वृत्त के रूप में देखा जाया करता है। धनञ्जय भी कहते हैं–**"प्रकरी च प्रदेशभाक"**[24] अर्थात् एक प्रदेश में रहने वाली इतिवृत्त प्रकरी कहलाती है। यथा–रामायण सम्बन्धित रूपकों में स्रवण वृत्तान्त या शबरी वृत्तान्त।

कार्य

यह पांचवी एवं अन्तिम अर्थ प्रकृति है। आधिकारिक कथावस्तु का प्रयोग प्रधान नायक आदि के द्वारा होता है तो उसके सहायक के रूप में जिन सामग्रियों का प्रयोग किया जाय उन समस्त नाट्याव्यवहार का त्रिवर्ग फल ही कार्य है। इसीलिए आचार्य धनञ्जय लिखते हैं–

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च।[25]

आचार्य विश्वनाथ का अर्थप्रकृति के सम्बन्ध में मानना है–

अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः।
समापनं तु यत्सिद्धयै तत्कार्यमिति संमतम्।।[26]

अर्थात् कार्य रूप अर्थप्रकृति का अभिप्राय उस प्रधानतया अवस्थित साध्य से है जिसके उद्देश्य से नायक के कृत्यों का आरम्भ हुआ करता है और जिसकी सिद्धि में नायक का कृत्यानुष्ठान समाप्त माना जाया करता है। यथा–रामचरित सम्बन्धी रूपकों में 'रावणवध' का जो निरूपण है वह कार्यरूप अर्थप्रकृति का निदर्शन है। कार्य अर्थप्रकृति के सम्बन्ध में 'नाट्यशास्त्र' में इस प्रकार कहा गया है–

यदाधिकारिकं वस्तु सम्यक् प्राज्ञैः प्रयुज्यते।
तदर्थो यः समारम्भस्तत्कार्यं परिकीर्तितम्।।[27]

इन्ही पांच अर्थप्रकृतियों का 'अग्निपुराण' में उल्लेख किया गया है। जिनके व्याख्या से स्पष्ट होता है कि प्रधान प्रयोजन की सिद्धि हेतु प्रधान–नायक, पताका, प्रकरी आदि मिलकर प्रभु, मन्त्र तथा उत्साह शक्तियों सम्पन्न होकर तथा जनपद, कोश, दुर्ग आदि की सहायता से साम आदि जो भी उपाय राजधर्म में बताये गये हैं उन उपायों से कार्य नामक अर्थप्रकृति के अन्दर परिगणित होते हैं। कार्य पांच अर्थप्रकृतियों में से एक है। क्योंकि पांचों अर्थप्रकृतियाँ 'फलस्य हेतवः' हैं। इसलिए कार्य को भी सामरम्भ मानना युक्तिसंगत है।

अवस्थाएँ

इतिवृत्त रूप में पांच अवस्थाएं भी होती हैं। जिसके विषय में 'अग्निपुराण' के कथन को पहले ही उद्धृत किया चुका है। अवस्था के विषय में 'नाट्यशास्त्र' में कहा गया है–

संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः साधकस्य यः।
तस्यानुपूर्व्या विज्ञेयाः पञ्चावस्था प्रयोक्तृभिः।।[28]

अर्थात् फल की प्राप्ति के लिए नायक या साधक का जो व्यापार या कार्य होता है उसी को अवस्था कहा जाता है। ये आरम्भ, यत्न, प्राप्तिसम्भव, नियताप्ति और फलागम नाम वाली पांच प्रकार की होती हैं। इन्ही पांच भेदों का वर्णन साहित्यदर्पण[29] एवं दशरूपक[30] में किया गया है।

प्रारम्भ–(आरम्भ)

नायक के फलप्राप्ति के प्रति उत्सुकता का निबन्धन वाला प्रथम अंश फलारम्भ या आरम्भ है। आचार्य भरत कहते हैं–

औत्सुक्यमात्रंवन्धस्तु यद् बीजस्य निबध्यते।
महतः फलयोगस्य स फलारम्भ इष्यते।।[31]

अर्थात् महान् फलयोग अथवा उद्देश्य की पूर्ति के लिए इच्छा या औत्सुक्य का बीजरूप में प्रदर्शन ही प्रारम्भ नामक अवस्था है यही कथन आचार्य धनञ्जय भी करते हैं–

औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे।[31]

आचार्य विश्वनाथ भी अपने 'साहित्यदर्पण' इसी कथन को दोहराते हुए कहते हैं–

भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये।[33]

अर्थात् आरम्भ कार्य की वह अवस्था है जिसे मुख्य फल की सिद्धि के लिए के औत्सुक्य कहा गया है। यथा–'रत्नावली' नाटिका में नायक वत्सराज उदयन के अन्तःपुर में नायिका के औत्सुक्य वर्णन है उसमें आरम्भावस्था की योजना दिखायी गयी है।

प्रयत्न

फलप्राप्ति के दृष्टिपथ पर न रहने पर उसके लिए उत्सुकता के साथ उद्यम की आकांक्षा का निबन्धन जो प्रयत्न प्रेरित कथांश रूप में हो वह प्रयत्न कहलाता है। जैसा कि 'नाट्यशास्त्र' में आचार्य भरत लिखते हैं–

अपश्यतः फलप्राप्ति व्यापारो यः फलं प्रति।
परं चौत्सुक्यगमनं स प्रयत्नः प्रकीर्तितः।।[34]

अर्थात् फल के न मिलने पर और शीघ्रतापूर्वक जो व्यापार किया

जाता है उसे प्रयत्न कहते हैं। आचार्य धनञ्जय लिखते हैं–

प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः।[35]

अर्थात् फल के प्राप्त न होने पर अत्यन्त वेग पूर्वक उद्योग करना ही प्रयत्न कहलाता है। इसके विषय में 'साहित्यदर्पण' में भी लिखा गया है–

प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः।[36]

यथा–'रत्नावली' के प्रसंग उदयन से मिलने को और तो कोई उपाय नही केवल जैसे–तैसे उन्हें चित्र में खींचकर अपनी इच्छा पूरी करू में उपनिबद्ध वत्सराज से मिलने के लिए रत्नावली का चित्रलेखन रूप जो व्यापार है उसमें प्रयत्न अवस्था परिलक्षित होती है।

प्राप्तिसद्भाव (प्राप्त्याशा):

–के सम्बन्ध में 'नाट्यशास्त्र' में कहा गया है–

ईषत्प्राप्तिर्यदा काचित्फलस्य परिकल्प्यते।
भावमात्रेण तं प्राहुर्विधिज्ञाः प्राप्तिसम्भवम्ः।।[37]

अर्थात् उपाय के रहने पर जब फल की ईषत (अल्प) प्राप्ति होती है तब वह प्राप्तिसम्भव नामक अवस्था कहलाती है। आचार्य धनञ्जय अपने 'दशरूपक' में लिखते हैं–

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः।[38]

अर्थात् उपाय के होने तथा विघ्न की शंका होने से जो फल प्राप्ति की सम्भावना मात्र होती है वह प्राप्त्याशा कही जाती है। इसी प्रकार 'साहित्यदर्पण' का भी लिखते हैं–

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः।[39]

उदाहरण रूप में 'कालिदास' विरचित 'अभिज्ञानशकुन्तल' में दुष्यन्त और शकुन्तला का गान्धर्व विवाह के द्वारा थोड़ी देर के लिए संगम हो जाता है। उपाय करने और अपाय की आशंका होने से फलप्राप्ति पूर्णरूप से नही हो पाती है। अनिश्चित फल प्राप्ति की प्राप्त्याशा है। यथा 'रत्नावली' में उदयन की अभीप्सित वस्तु सागरिका है, लेकिन वह उसे तभी प्राप्त हो सकता है जब वासवदत्ता रूपी आंधी उसे उड़ाकर अन्यत्र न ले जाये। इसी प्रसंग रूप में यह दिखाया गया है कि समागम रूपफल की प्राप्ति सर्वथा निश्चित नही है।

नियताप्ति

नियताप्ति के विषय में आचार्य भरत लिखते हैं–

नियतां तु फलप्राप्तिं यदा भावेन पश्यति।
नियतां तां फलप्राप्तिं सगुणा परिचक्षते।।[40]

अर्थात् जहाँ निश्चित रूप में फल की प्राप्ति हो जाय उसे नियतताप्ति कहते हैं। इस अवस्था में सम्पूर्ण विघ्न समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार धनञ्जय भी लिखते हैं–

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता।[41]

आचार्य विश्वनाथ का भी मानना इसी प्रकार का है–

अपायाभावतः प्राप्तिनियमताप्तिस्तु निश्चिता।[42]

अर्थात् जब विघ्नबाधा की निवृत्ति से फल–प्राप्ति की संभावना निश्चित हो जाती है तो उस कार्य अवस्था को नियताप्ति कहते हैं। यथा 'वेणीसंहार' में "पूर्यन्ता सलिलेन रत्नकलशाः" इत्यादि श्लोक के द्वारा महाराज युधिष्ठिर की सफलता निश्चित है। ऐसी सूचना नियताप्ति नामक अवस्था कही जाती है।

फलयोग–(फलागम)

नायक को अपने इच्छित सम्पूर्ण फल की उपलब्धियाँ क्रियाफल की प्राप्ति हो जाना ही फलयोग है। इसके विषय में नाट्यशास्त्र में कहा गया है–

अभिप्रेतं समग्रं च प्रतिरूपं क्रियाफलम्।
इतिवृत्ते भवेद्यस्मिन्फलयोगः प्रकीर्तितः।।[43]

अर्थात् जहाँ विरोधी कार्य समाप्त होकर (पूर्ण रूप से अभिप्रेत) फल (अभिलषितवस्तु) की प्राप्ति हो वहां फलयोग नामक अवस्था होती है। यहाॅ फल की पूर्णरूप से प्राप्ति हो जाती है। आचार्य विश्वनाथ कहते हैं–

साऽवस्था फलयोगः स्याद्यः समग्रफलोदयः।[44]

अर्थात् फलागम वह कार्यवस्था है जिसे समग्र फल लाभ कहा गया है। इसी प्रकार आचार्य धनञ्जय भी लिखते हैं–

समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः।[45]

उदाहरण–'रत्नावली' नाटिका में रत्नावली की प्राप्ति तथा इससे उदयन

का चक्रवर्ती बन जाना फलयोग या फलागम है।

सन्धि

सन्धि का अर्थ जोड़ है। कोई भी वस्तु बिना जोड़ के नही होता है। अनेक जोड़ों को समुचित रीति से मिला देने पर वह समग्र पदार्थ एक विशिष्ट समन्वित रूप में हमारे नेत्रों के सामने आता है। नाटक भी ऐसा ही एक समन्वित पदार्थ है जिसमें पांच सन्धियाँ होती हैं। कहने का भाव यह है कि नाट्य में शरीर भूत इतिवृत्त के लिये अवस्थाओं तथा अर्थप्रकृतियों के योग से पांच सन्धियों की कल्पना की गयी है। ये सन्धियाँ आरम्भ आदि अवस्थाओं की भाँति इतिवृत्त की अभिन्न अंग होती हैं तथा अनिवार्य रूप में इतिवृत्त की दशाओं में संयोज्य होती है। इनकी संख्या पांच होती है। जिसका स्पष्ट निर्देश 'अग्निपुराण' में किया गया है–

मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्शश्च तथैव च।
तथा निहरणं चेति क्रमात्पञ्चैव संधयः।।[46]

अर्थात् नाटक में क्रमशः पांच सन्धियाँ होती हैं–मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निहरण। इतिवृत्त रूप विवेचना में पांचों सन्धियों के विषय में सभी विद्वान् एक मत हैं। 'नाट्यशास्त्र' में कहा गया है–

मुखं प्रतिमुखं चैव गर्भो विमर्शश्च एव च।
तथा निर्वहणं चेति नाटके पञ्चसन्धयः।।[47]

अर्थात् इन्हीं पांचों सन्धियों को सभी आचार्य स्वीकार करते हैं। ये है–मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण। 'आचार्यधनञ्जय', 'आचार्यविश्वनाथ' इन्हीं पांच सन्धियों को स्वीकार करते हैं। यह सन्धियाँ अर्थप्रकृति और अवस्थाओं के क्रमशः योग से निर्मित होती हैं। बीज तथा आरम्भ को मिलाने वाली सन्धि मुखसन्धि कही जाती है। बिन्दु तथा यत्न को मिलाने वाली सन्धि प्रतिमुख सन्धि कही जाती है। प्राप्त्यशा और पताका के योग से गर्भ सन्धि बनती है। नियताप्ति और प्रकारी को मिलाने वाली सन्धि विमर्शसन्धि होती है। जहॉ कार्य तथा फलागम मिलते हैं अर्थात प्रयोजन की सिद्धि होती है वहॉ निर्वहणसन्धि बनती है। इसी को 'अग्निपुरण' में निहरण कहा गया है।

मुखसन्धि

अग्निपुराण में मुखसन्धि को परिभाषित करते हुए कहा गया है–

यत्र बीज समुत्पत्तिर्नानार्थ रससंभवा।
काव्ये शरीरानुगतं तन्मुखं परिकीर्तितम्।।[48]

अर्थात् जहाँ चमत्कृत अर्थ रस आदि से युक्त उपर्युक्त बीज नामक अर्थप्रकृति होती है वहॉ नाटकीय कथावस्तु का अनुकारक स्थल मुखसन्धि कहलाता है। पुनः मुखसन्धि के वर्ण्य विषय का भी 'अग्निपुराण' में उल्लेख किया गया है–

इष्टस्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानुपक्षयः।
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गुह्यानां चैव गूहनम्।।
आश्चर्यवदभिख्यातं प्रकाशानां प्रकाशनम्।
अङ्गहीनो नरो यद्वन्न श्रेष्ठं काव्यमेव च।।[49]

अर्थात् मुखसन्धि में ही अभीष्ट कथावस्तु की रचना, वृत्त (कथा) का अनुपक्षय अर्थात् अक्षीयमाणस्वरूप, प्रयोग (नाटक) को आनन्दमयी स्थिति गोपनीय बातों का गोपन, ख्यात (घटना सूत्र) का आश्चर्यमयी पद्धति से कथन, प्रकाशनीय तथ्यों का प्रकाशन इन नाटकीय गुणों का उल्लेख होना चाहिए। इन उपर्युक्त गुणों से रहित काव्य अंगहीन मनुष्य की भांति श्रेष्ठ नही बन सकता है। 'अग्निपुराण' को केवल मुखसन्धि के निर्देश और महत्त्व के प्रतिपादन से अन्य सन्धियों का इसी रूप में वर्णन अनिवार्यता का ध्यान दिलाता है। अतः क्रमशः अन्य नाट्यशास्त्री ग्रन्थों पर आधारित पांच सन्धियों का वर्णन अपेक्षित हो जाता है। आचार्यविश्वनाथ मुखसन्धि के विषय में 'साहित्यदर्पण' में लिखते हैं–

यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्त्तितम्।।[50]

अर्थात् मुखसन्धि रूपक का वह अंश है जिसके साथ नायक की प्रारम्भावस्था सम्बद्ध रहा करता है और जिसमें बीज रूप अर्थप्रकृति की योजना हुआ करती है। यह मुख सन्धि रूप अर्थराशि ऐसी हुआ करती है जिसमें भिन्न–भिन्न रसभावों की अभिव्यंजना भी रहा करती है। यथा 'रत्नावली' नाटिका के प्रथम अंक की जो अर्थराशि है वह मुखसन्धि रूप की ही अर्थराशि है। मुखसन्धि की बहुत ही स्पष्ट परिभाषा देते हुए आचार्य

भरत कहते हैं–

यत्र बीज समुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।
काव्ये शरीरानुगतां तन्मुखं परिकीर्त्तितम्।।[51]

अर्थात् जब अनेक रस तथा भावों की अभिव्यंजना के साथ नाटक के बीजार्थ की उद्भावना की जाए, जो नाटकीय कथावस्तु की अनुकूलता को सम्पन्न करती हो, तो उसे मुखसन्धि कहते हैं। इस मुखसन्धि के बारह अंग होते हैं। जिसके विषय में 'नाट्यशास्त्र' में कहा गया है–

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम्।
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना।।
उद्भेदः करणं भेदो एतान्यङ्गनि वैः मुखेः।[52]

अर्थात् उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, करण, भेद ये बारह मुख सन्धि के अंग हैं।

प्रतिमुखसन्धि

प्रतिमुखसन्धि के विषय में 'नाट्यशास्त्र' में कहा गया है–

बीजस्योदघाटनं यत्र दृष्टनष्टामिव क्वचित्।
मुखन्यस्तस्य सर्वत्र तदैव प्रतिमुखं भवेत्।।[53]

अर्थात् मुखसन्धि में स्थापित उस बीज का जो कभी दिखाई देता है और कभी नष्ट सा हो जाता है, जब विकास या प्रकट होना दिखलाई दे, तो उसे प्रतिमुखसन्धि समझना चाहिए। इस सन्धि के तेरह अंग नाट्यशास्त्र में बतलाए गये हैं–

विलासः परिसर्पश्च विधूतं तापनं तथा।
नर्म नर्मद्युतिश्चैव तथा प्रगयणं पुनः।।
विरोधश्चैव विज्ञेयः पर्युपासनमेव च।
पुष्पं वज्रमुपन्यासो वर्णसंसहार एव च।।[54]

अर्थात् विलास, परिसर्प, विधूता, तापन, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, पुष्प, वज्र, उपन्यास और वर्णसंहार ये तेरह प्रतिमुखसन्धि के अंग हैं। आचार्यविश्वनाथ प्रतिमुखसन्धि के विषय में अपने लक्षण ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' में कहते हैं–

फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत्।।[55]

अर्थात् प्रतिमुख वह सन्धि है जिसमें मुखसन्धि–निविष्ट बीज का ऐसा उद्भेद हुआ करता है जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों का रूप रहा करता है। यथा–रत्नावली नाटक के द्वितीय अंक में नायक वत्सराज और नायिका रत्नावली के उस प्रेम बीज का उद्भेद दिखायी पड़ता है जो कि उनके परस्पर मिलन के हेतु रूप में प्रथम अंक में ही निक्षिप्त हो चुका है। नाटक के प्रथम अंक में उपक्षिप्त प्रेम बीज का यह उद्भेद इसलिये किंचिन्न मात्र लक्ष्य है क्योंकि सुसंगता और विदूषक इससे पूर्णतया परिचित बताये गये हैं। यह इसलिए किंच्चिन्मात्र अलक्ष्य भी है। इसका कारण यह है कि वासवदत्ता को इसकी जो कुछ भी जानकारी है वह सागरिका द्वारा चित्रित वत्सराज के चित्र के आधार पर अनुमान द्वारा है, प्रत्यक्षतः नही है।

गर्भसन्धि

गर्भसन्धि का सन्धियों में विशेष महत्त्व है। इस सन्धि के विषय में 'नाट्यशास्त्र' में कहा गया है–

उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव वा।
पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ इति संज्ञितः।।[56]

अर्थात् जब बीज अंकुरित या प्रकट होकर पुनः तरोहित हो जाए तथा आगे चलकर उसी का अन्वेषण किया जाए जो उसे गर्भसन्धि कहते हैं। आचार्य विश्वनाथ भी लिखते हैं–

फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन।
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः।[57]

अर्थात् गर्भसन्धि वहां होती है जहॉ मुख और प्रतिमुख सन्धि में क्रमशः किंचिन्मात्र उद्भिन्न प्रधानोपाय रूप बीज का ऐसा समुद्भेदन कहा जाया करता है जिसमें बीज के ह्रास और विकास की चिन्ता साथ–साथ चला करती है। 'रत्नावली' नाटिका के तृतीय अंक में 'सागरिका' से मिलने के पश्चात् राजा को वासवदत्ता रूपी विघ्न का सामना करना पड़ता है जिससे उस नायिका की प्राप्ति में विच्छेद हो जाता है। इसके पश्चात् पुनः सागरिका की प्राप्ति तथा फिर विच्छेद होता है और अन्त में वासवदत्ता के मानने का जो उपाय सोचा जाता है, वह नायिका की पुनः तथा स्थायी प्राप्ति के लिए होता है–"नास्ति देवी–प्रसादनमुक्त्वान्य उपायः।" गर्भसन्धि के 'नाट्यशास्त्र'

में तेरह अंग स्वीकार किये गये हैं–

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः।
संग्रहश्चनुमानं च प्रार्थनाक्षिप्तरेव च।।
तोटकाधिबले चैव ह्युद्वेगो विद्रवस्तथा।
एतान्यगांनि वै गर्भे .... ।।[58]

अर्थात् अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, प्रार्थना, आक्षिप्ति, तोटक, अधिबल, उद्वेग, विद्रव ये तेरह अंग गर्भसन्धि के हैं। दशरूपक में केवल बारह ही गर्भसन्धि का के अङ्गों उल्लेख मिलता है। 'नाट्यशास्त्र' के प्रार्थना नामक अंग को दशरूपककार नही स्वीकार किये हैं।[59]

विमर्शसन्धि

आचार्य भरत के मत में विमर्शसन्धि का सन्धियों में विशेश महत्त्व है। इसके विषय में उन्होंने कहा है–

गर्भनिर्भिन्नबीजार्थो विलोभनकृतोऽथवा।
क्रोधव्यसनजो वापि स विमर्श इति स्मृतः।।[60]

अर्थात् गर्भसन्धि में जिस बीजार्थ का विकास हुआ था, वह प्रलोभन, क्रोध या दुर्गति आदि के संयोजन से जहाँ अधिक विकास को प्राप्त करे, वह विमर्श सन्धि है। आचार्य धनंजय भी आचार्य भरत का ही समर्थन करते हैं लेकिन विमर्श के स्थान पर सन्धि का नाम अवमर्श दिये हैं। आचार्य विश्वनाथ कहते हैं–

यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः।
शापाद्यैः सान्तारायश्च स विमर्श इति स्मृतः।।[61]

अर्थात् विमर्शसन्धि वह सन्धि है जिसमें गर्भ सन्धि में उद्भिन्न प्रधानोपाय रूप बीज और भी अधिक उद्भिन्न प्रतीत हुआ करता है और साथ ही साथ वाह्य परिस्थिति के कारण आने वाली विघ्न–बाधाओं से भी लड़ती दिखायी दिया करती है। 'रत्नावली' नाटिका के चतुर्थ अंक में आग लगने पर भगदड़ मच जाने की घटना तक विमर्श दिखाया गया है। यहॉ पर सागरिका के प्रति वासवदत्ता के विरोध को छोड़ देने से निर्विघ्न रूप से रत्नावली की प्राप्ति का व्यवसाय है। 'नाट्यशास्त्र' में विमर्श सन्धि के तेरह अंग बताये गये हैं–

अपवादश्च सम्फेटो विद्रवः शक्तिरेव च।
प्रसङ्गे व्यवसायश्च द्युति खेदो निषधनम्।।
विरोधनमथादानं छादनं च प्ररोचना।।[62]

अर्थात् अपवाद, सम्फेट, विद्रव, शक्ति, प्रसंग, व्यवसाय, द्युति, खेद, निषेध, विरोधन, आदान, छादन, प्ररोचना ये विमर्श के तेरह अंग हैं।

निर्वहण

इसी सन्धि को 'अग्निपुराण' में निहरण सन्धि कहा गया है।[63] किन्तु 'नाट्यशास्त्र' में निर्वहण ही मिलता है। इसके विषय में 'नाट्यशास्त्र' का कथन है–

समानयनमर्थानां मुखाद्यानां सबीजिनाम्।
नानाभावोत्तराणां यद्भवेन्निर्वहणं तु तत्।।[64]

अर्थात्निर्वहणसन्धि में प्रथमतः चार सन्धियों की घटनाओं को फलशालिनी अन्तिम घटना से सूत्रित कर देते हैं। पूर्वोक्त कथांशो में बीजात्मक सुख–दुःखमय नाना भाव होते हैं। उन सबकी फलशालिनी घटना निर्वहणसन्धि के अन्तर्गत आती है। निर्वहण के सम्बन्ध में धनञ्जय कहते हैं–

बीजवन्तो मुखाद्यार्था विप्रकीर्णा यथायथम्।
एकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्।।[65]

अर्थात् जहाँ बीज से सम्बन्ध रखने वाली मुखसन्धि आदि में अपने–अपने स्थान पर बिखरे हुए अर्थों का एक प्रयोजन के साथ सम्बन्ध दिखलाया जाता है, वह निर्वहण सन्धि कहलाती है। आचार्यविश्वनाथ दशरूपककार के समान ही निर्वहण सन्धि को परिभाषित किये हैं।[66] यथा–कञ्चुकी–महाराज की जय हो।

दुर्योधन के रक्त से रंजित और इसीलिये पहचान में न आने वाले ये भीमसेन ही है आदि में इस नाटक के प्रधान फल के निष्पादन का जो उपन्यास है वह निर्वहणसन्धि रूप ही रूपकार्य है। वस्तुतः यही वह रूपकार्य है जिसकी निष्पत्ति के लिए उन–उन सन्धियों में यथास्थान विन्यस्त द्रोपदी केशसंयमन आदि रूप बीजादि भूत इतिवृत्तांश उन्मुख किं वा उत्सुक होते रहे हैं। नाट्यशास्त्र में निर्वहणसन्धि के चौदह अंग बताये गये हैं–

सन्धिर्निरोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम्।
द्युतिः प्रसाद आनन्दः समयश्चोपगूहनम्।।

भाषणं पूर्ववाक्यं च काव्यसंहार एव च।
प्रशस्तिरिति संहारे ज्ञेयान्यङ्गनि नामतः।।[67]

अर्थात् सन्धि, निरोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषा, द्युति, आनन्द, समय, प्रसाद, उपगूहन, भाषण, पूर्ववाक्य, काव्यसंहार और प्रशस्ति ये चौदह निर्वहण सन्धि के अंग हैं। इस प्रकार पांच सन्धियों का विधिवत प्रतिपादन नाट्य में अनिवार्य रूप से किया जाना चाहिए। नाटक के विषयवस्तु के सम्बन्ध में अग्निपुराण में कहा गया है–

देशकालैर्विना किंचिन्नेतिवृत्तं प्रवर्तते।
अतस्तयोरुपादानां नियमात्पदमुच्यते।।[68]

अर्थात् देश–काल के बिना किसी कथानक की रचना नही होती है। इसलिए नियमपूर्वक उन दोनों का उपादान करना पद कहलाता है। इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार देश–काल को पद कहा गया है। पद के बिना सामाजिक को रसास्वादन नही हो सकता है। अतः नाट्य में पद प्रयोग आवश्यक है। आगे इसके महत्त्व को भी स्पष्ट करते हुए 'अग्निपुराण' में कहा गया है–

देशेषु भारतं वर्ष काले कृतयुगत्रयम्।
नर्ते ताभ्यां प्राणभृतां सुखदुःखोदयः क्वचित्।।
सर्गे सर्गादिवार्त्ता च प्रसज्जती न दुष्यति।[69]

अर्थात् नाटक का दृश्य सदा भारत के ही होने चाहिए और कालों में सत्युग, त्रेता और द्वापर इन तीन का उल्लेख किया जाना चाहिए। देश और काल के सम्यक् उल्लेख के बिना दर्शकों में सुख–दुख की अनुभूति ठीक प्रकार से नही करायी जा सकती है। अंक में सृष्टि की आरम्भिक कथा का दिखाना भी दोष नहीं, है। यहॉ एक बहुत ही महत्वपूर्ण तथ्य सामने आया है कि नाट्य का जो देश होगा वह भारत होगा, जिससे यह विदित होता है कि भारत ही नाट्य की उत्स भूमि है। इसी भारत के दृश्य ही 'अग्निपुराण' में स्वीकार्य है तथा हरिश्चन्द्र, राम, कृष्ण के युगों से सम्बन्धित नाटक ही कल्पान्तर स्थायी होते हैं।

संदर्भ :

1. आप्टेवामन शिवराम, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 909
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/1 के अनन्तर, गद्यांश

3. अग्निपुराण, 338/17
4. नाट्यशास्त्र 19/1
5. वही, 20/1
6. अग्निपुराण 338/18
7. ऋग्वेद, 3/
8. किरातार्जुनीयम् 11/39
9. रघुवंश, 10/26
10. दशरूपक 1/11
11. वही, 1/11
12. वही, 1/15–16
13. अग्निपुराण, 338/19–20
14. साहित्यदर्पण 6/65 वृत्तिभाग
15. नाट्यशास्त्र, 19/20
16. अग्निपुराण, 338/22
17. दशरूपक 9/17
18. साहित्यदर्पण, 6/65–66
19. दशरूपक, 1/17
20. साहित्यदर्पण, 6/66
21. वही, 6/67
22. दशरूपक, 1/13
23. साहित्यदर्पण, 6/68
24. दशरूपक, 1/13
25. वही, 1/16
26. साहित्यदर्पण, 6/69–70
27. नाट्यशास्त्र, 19/26
28. वही, 19/7
29. साहित्यदर्पण, 6/70–71
30. दशरूपक, 1/19
31. नाट्यशास्त्र, 19/9
32. दशरूपक, 1/20
33. साहित्यदर्पण, 6/71
34. नाट्यशास्त्र, 19/10
35. दशरूपक 1/20
36. साहित्यदर्पण 6/72

37. नाट्यशास्त्र 19/11
38. दशरूपक 1/21
39. साहित्यदर्पण, 6/72
40. नाट्यशास्त्र 19/12
41. दशरूपक 1/21
42. साहित्यदर्पण, 6/72
43. नाट्यशास्त्र, 19/13
44. साहित्यदर्पण, 6/73
45. दशरूपक, 1/22
46. अग्निपुराण, 338/21
47. नाट्यशास्त्र, 19/37
48. अग्निपुराण, 338/23
49. वही, 338/24–25
50. साहित्यदर्पण, 6/76–77
51. नाट्यशास्त्र, 19/39
52. वही, 19/57–58
53. वही, 19/40
54. वही, 19/59–60
55. साहित्यदर्पण, 6/77–78
56. नाट्यशास्त्र, 19/41
57. साहित्यदर्पण, 6/78–79
58. नाट्यशास्त्र, 19/61–63
59. दशरूपक, 1/37–38
60. नाट्यशास्त्र, 19/42
61. साहित्यदर्पण, 6/79–80
62. नाट्यशास्त्र, 19/63–65
63. अग्निपुराण, 338/21
64. नाट्यशास्त्र, 19/43
65. साहित्यदर्पण, 6/80–81
66. दशरूपक, 1/48–49
67. नाट्यशास्त्र, 19/65–67
68. अग्निपुराण, 338/26
69. अग्निपुराण, 338/27

□

पंचम अध्याय

पात्र–योजना

नाट्य शास्त्रीय परम्परा में पात्र योजना का विशेष महत्त्व होता है। पात्रों के द्वारा ही नाट्य व्यापार को पूर्ण किया जाता है। पात्रजन्य चारित्रिक उत्कर्ष को ही सुनाट्य का परिचायक माना जाता है। नाट्य के सभी पात्र अपने पूर्ण व्यक्तित्त्व के साथ मञ्च पर पदार्पण करते हैं। उसके पात्र सजीव एवं सक्रिय होते हैं। उनमें स्फूर्ति एवं भाव प्रकाशन की अपार क्षमता होती है। उनमें उत्साह और संघर्ष करने की शक्ति भी काव्य की तुलना में अधिक दृष्टिगोचर होती है। कारण स्पष्ट है कि काव्य के पात्र श्रवणेन्द्रिय को तृप्त करते हैं जबकि नाट्य के पात्र श्रवणेन्द्रिय एवं नेत्रेन्द्रिय दोनों को तृप्त करने की सहज क्षमता रखते हैं।

नाट्याभिनय में पात्र ही प्रतिपाद्य का प्रस्तोता होता है। नाट्य की रचनाधर्मिता पात्र योजना पर ही निर्भर करती है। इसीलिए 'अग्निपुराण' में नायक–नायिका समेत अन्य पात्रों की योजना की गयी है। यह पात्र योजना भारतीय समाज एवं संस्कृति के विविध आयामों के अनुरूप ही हुआ करती है क्योंकि जब तक शास्त्र और लोक एक दूसरे के पूरक नही बनते हैं तब तक उनकी उपादेयता सिद्ध नहीं होती है। इसी महनीयता की दृष्टि से पात्र योजना के प्रकृतिभेद को यहाँ प्राथमिकता दी गयी है। जिसके विषय में आचार्य अभिनवगुप्त का कहना बहुत ही प्रासांगिक प्रतीत होता है–

स्त्रीणां पुंसां च यद्यपि विचित्राः स्वभावास्तथापि प्रतिपदमशक्यकलना इति प्रकृतित्रयेण ते सर्वे शक्यसंग्रहा इति प्रकृतित्रयं वक्तव्यम्।[1]

अभिनवगुप्त के उक्त मन्तव्य से स्पष्ट है कि आचार्य भरत ने त्रिविध प्रकृति को स्वीकार किया था। स्त्रियों एवं पुरुषों की प्रकृति में भेदकला को स्वीकार करते हुए कार्यभेद से पात्रों का वर्गीकरण आचार्यभरत द्वारा किया गया है। 'नाट्यशास्त्र' में स्त्री तथा पुरूषों की प्रकृति तीन प्रकार की बतलाई गयी है–

समासतस्तु त्रिविधाप्रकृतिः परिकीर्तिता।
स्त्रीणां च पुरूषाणां च उत्तमाधममध्यमाः।।2

अर्थात् स्त्री और पुरुष की प्रकृति तीन प्रकार की होती है–उत्तम, मध्यम और अधम। यह प्राकृति उनके गुणों का उद्घाटन करती है और अपने प्रकृति के अनुसार सभी पात्र नाट्याभिनय भी करते हैं। पुरुषपात्र के रूप में नायक, उपनायक प्रतिनायक, विदुषक, विट, चेट, शकार, कञ्चुकी, प्रतीहारी, दूत, वामन, षण्ढ, किरात, म्लेच्छ और आभीर इत्यादि पात्रों की नाट्याभिनय में आवश्यकता पड़ती है। जिनके कुशल अभिनय से ही सहृदय आनन्द का अनुभव करता है। अतः नाट्यतत्त्व के रूप में पात्र योजना का महत्त्व स्वयं सिद्ध है।

नायक

वस्तुतः नायक शब्द प्रापणार्थक 'नी' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ ले जाने वाला है। वह नाटकीय कथावस्तु को फलागम तक ले जाता है इसीलिए उसे नायक कहा जाता है। नायक और नेता शब्द में भेद है, क्योंकि नेता शब्द से नायक, नायिका, विट, चेट चेटी आदि सभी पात्रों का अर्थग्रहण होता हे। इसलिए नेता शब्द व्यापक शब्द है जो सभी पात्रों की ओर संकेत करता है। दशरूपक में 'वस्तुनेतारसस्तेषांभेदकः' का उल्लेख भी पात्रयोजना की ओर ही संकेत करता है।

नाट्यतत्त्व के रूप में पात्र योजना का विशेष महत्त्व होता है। इसमें भी नयक प्रमुख पात्र होता है क्योंकि नाट्य उसी के व्यक्तित्त्व का निकष होता है। इसके विषय में 'साहित्यदर्पण' में कहा गया है–

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता।।[3]

अर्थात् नायक वह है जो त्याग भावना से पूर्ण हो महान् कार्यों का कर्त्ता हो, कुल का महान, बुद्धि वैभव से सम्पन्न हो, रूप यौवन और उत्साह

से युक्त हो तथा निन्तर उद्योगशील, जनता का स्नेह भाजन और तेजस्विता, चतुरता किंवा सुशीलता का निदर्शक हो। 'अग्निपुराण' के नायक के सम्बन्ध में कहा गया है–

आलम्बनविभावोऽसौ नायकादिभवस्तथा।
धीरोदात्तो धीरोद्धतः स्याद्धीरललितस्तथा।।
धीरप्रशान्त इत्येवं चतुर्धा नायकः स्मृतः।
अनुकूलो दक्षिणश्च शठो धृष्टः प्रवर्तितः।[4]

अर्थात् यह आलम्बन विभाव नायकादि में ही होता है अथवा नायकादि को आलम्बन विभाव कहते हैं। धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्त ये नायक के चार भेद किये गये हैं। प्रत्येक भेद के अनुकूल, दाक्षिण, शठ और धृष्ट ये चार नायक के उपभेद हैं। यहाँ नायक को आलम्बन विभाव कहा गया है। रसानुभूति के कारण को ही विभाव कहा जाता है। इसके दो प्रकार हैं–आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव। जिसको आलम्बन करके रस की उत्पत्ति होती है उसी को आलम्बन विभाव कहते हैं। यथा–दुश्यन्त को देखकर शकुन्तला के मन में अथवा शकुन्तला को देखकर दुश्यन्त के मन में रति की उत्पत्ति होती है और उन दोनों को देखकर सामाजिक के भीतर रस की अभिव्यक्ति होती है। अतः दुश्यन्त और शकुन्तला में आलम्बन विभाव का दर्शन होता है। यही अलम्बन–विभाव 'अग्निपुराण' के अनुसार नायक का विशेष गुण है। चाँदनी, उद्यान, एकान्त स्थान आदि के द्वारा उस रति का उद्दीपन होता है इसलिए इसे उद्दीपन विभाव कहा जाता है।

इसके साथ–साथ श्रृङ्गार रस में नायक को नायिका से मिलाने वाले तीन उसके सहायकों को भी 'अग्निपुराण' में बताया गया है–

पीठमर्दो विटश्चैव विदूषक इति त्रयः।
शृंगारे नर्मसचिवा नायकस्यानुनायकाः।।[5]

अर्थात् श्रृङ्गार रस में नायक को नायिका से मिलाने वाले तीन सहायक पात्र होते हैं–पीठमर्द, विट और विदूषक। इस प्रकार ये सभी पात्र किसी न किसी रूप में नायक के सहायक ही सिद्ध होते हैं। नायक के व्यक्तित्त्व में उत्कर्ष उत्पन्न करना ही इन सबका परम उद्देश्य होता है। आचार्य धनञ्जय ने दशरूपक में नायक के चार भेदों का उल्लेख करते हुए लिखा है–

भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम्।[6]

अर्थात् नायक ललित, शान्त, उदात्त और उद्धत भेद से चार प्रकार का होता है। आचार्य विश्वनाथ भी नायक का उल्लेख अपने 'साहित्यदर्पण' में किये हैं–

धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च।
धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः।।[7]

अर्थात् सर्वप्रथम नायक के ये चार भेद हैं–धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त।

धीरोदात्त नायक

आचार्य विश्वनाथ धीरोदात्त नायक के विषय में लिखते हैं–

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः।।[8]

अर्थात् आत्मश्लाघा की भावनाओं से रहित, क्षमशील, अतिगम्भीर, दुःख–सुख में प्रस्थित स्वभावतः स्थिर और स्वाभिमानी किन्तु विनीत स्वभाव वाला धारोदात्त नायक होता है।

धीरोद्धत नायक

धीरोद्धत नायक के विषय में आचार्य विश्वनाथ कहते हैं–

मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहंकारदर्यभूयिष्ठः।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः।।[9]

अर्थात् धीरोद्धत वह नायक है जो मायापटु हो, उग्रस्वभाव वाला हो, स्थिर प्रकृति का न हो, अहंकार और दर्प से भरा हो और जिसे नाट्यकोविद् आत्मश्लाघा में निरत कहा करते हैं।

धीरललित नायक

आचार्य विश्वनाथ धीरललित नायक के विषय में कहते हैं–

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्।[10]

अर्थात् जो निश्चिन्त रहने वाला हो, स्वभाव का मृदु हो और कला व्यसनी हो उसे धीरललित नायक कहा जाता है।

धीरप्रशान्तनायकः

धीरप्रशान्तनायक के विषय में साहित्यदर्पण में कहा गया है–

सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात्।[11]

अर्थात् जिसमें नायक के त्यागादि सामान्यगुण प्रचुर रूप में हो और ब्राह्मणादि वर्ण का हो वह नायक धीरप्रशान्त नायक कहलाता है। अग्निपुराण में अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट ये चार उप भेद प्रत्येक नायक के बतलाये गये हैं। इस प्रकार नायक के कुल सोलह भेद हो जाते हैं। जैसा कि साहित्यदर्पण में भी कहा गया है–

एभिर्दक्षिणधृष्टानुकूलशठरूपिभिस्तु षोडशधा।[12]

अर्थात् धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त नायक, दक्षिण, धृष्ट अनुकूल और शठ इन चार रूपों में चित्रित होकर सोलह भेदो में विभक्त दिखलाई पड़ते हैं। यही कथन आचार्य धनञ्जय अपने दशरूपक में भी करते हैं–

स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः। नायकप्रकरणात्पूर्वां नायिकां प्रत्यन्ययाऽपूर्वनायिकयाऽपहृतचित्तस्त्र्यवस्थो वक्ष्यमाणभेदेन स चतुरवस्थः। तदेवं पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येकं चतुरवस्थत्वेन षोडशधा नायकः।[13]

अग्निपुराणोक्त नायक के उपभेद के रूप में अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट का भी आचार्य विश्वनाथ अपने लक्षणग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' में लक्षण दिये हैं।

अनुकूल नायक

अनुकूल नायक का लक्षण इस प्रकार है–

अनुकूल एकनिरतः।[14]

अर्थात् अनुकूल वह नायक होता है जो एक ही नायिका के प्रेम में पगा रहता है। यानि कहने भाव यह है कि एक प्रेमिका के प्रति आसक्ति रखने वाला व्यक्ति ही अनुकूल नायक होता है। यही कथन आचार्य धनञ्जय भी किये हैं–

अनुकूलस्त्वेकनायिकः।[15]

दक्षिणनायक

दक्षिण नायक के उपभेद को परिभाषित करते हुए आचार्य विश्वनाथ लिखते हैं–

एषु त्वनेकमहिलासु समरागो दक्षिणः कथितः।[16]

अर्थात् नायकों में दक्षिण नायक वह नायक है जो एक से अधिक रमणी–जन के साथ समान अनुराग रखने वाला होता है। जैसा कि आचार्य धनञ्जय भी लिखते हैं–

दक्षिणोऽस्यां सहृदयः।[17]

शठनायक

शठनायक का लक्षण 'साहित्यदर्पण' में इस प्रकार दिया गया है–

शठोऽयमेकत्र वद्धभावो यः।
दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति।।[18]

अर्थात् शठ नायक वह नायक है जो कि वस्तुतः तो किसी दूसरी नायिका से प्रेम करे और अपनी पहली प्रेमिका से बाहरी प्रेम जताकर छिपे–छिपे उसका अनिष्ट किया करे। आचार्य धनञ्जय शठनायक के सम्बन्ध में अपने दशरूपक में लिखते हैं–

स दक्षिणः शठो धृष्टःपूर्वां प्रत्यन्यया हृतः।[19]

अर्थात् जो नायक दूसरी नायिका के द्वारा हर लिया जाता है वह पहली के प्रति दक्षिण, शठ या धृष्ट कहलाता है।

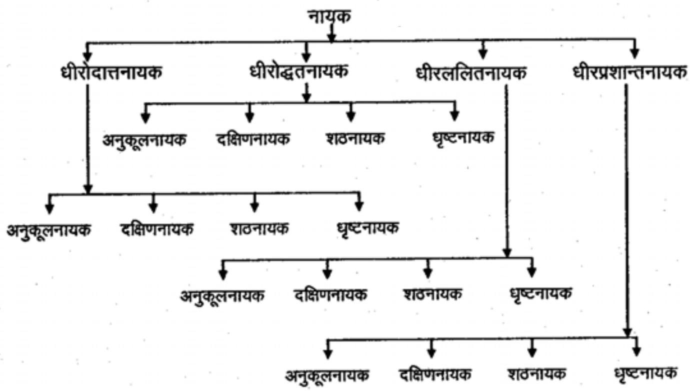
धृष्ट नायक

धृष्ट नायक के सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ लिखते हैं–

कृतागा अपि निःङ्कशस्तर्जितोऽपि न लज्जितः।
दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्कथितो धृष्टनायकः।।[20]

अर्थात् धृष्ट नायक वह है जो कि प्रेम में अपराधी होने पर भी अपनी प्रेमिका के कोप की चिन्ता नहीं करता, प्रेमिका की झिड़कियाँ खाने पर भी लज्जित नही होता है। स्पष्टतया अपने दोषों के प्रकट हो जाने पर भी झूठ बोलकर उन्हें छिपाने को ही तैयार रहा करता है। यहाँ तक नायक और उपनायक को बहुत ही विस्तार के साथ व्याख्ययित किया गया जिससे

उनका विषय स्पष्ट हो जाता है। अतः इस प्रकार हम उपर्युक्त नायक भेदों को रेखाचित्र के माध्यम से व्यक्त कर सकते हैं–



कुल = 16 नायक

अग्निपुराण में कहा गया है कि नायक को नायिका से मिलान वाले तीन पात्र होते हैं। जिनका उल्लेख प्रारम्भ में ही किया जा चुका है। वे तीन पात्र है–पीठमर्द, विट और विदूषक

पीठमर्द

'अग्निपुराण' में पीठमर्द पात्र के विषय में कहा गया है–

पीठमर्दस्तु कलशः।[21]

अर्थात् पीठमर्द पात्र नायक का कुशल सहायक पात्र होता है। इसके विषय में आचार्य विश्वनाथ भी कहते हैं–

दूरानुवर्तिनि स्यात्तस्य प्रासंगिकेतिवृत्ते तु।
किञ्चित्तद्गुणहीनः सहाय एवास्य पीठमर्दाख्यः।।[22]

अर्थात् जहाँ नायक का प्रासङ्गिक इतिवृत्त दूर तक चला करता है वहाँ उसका एक सहायक भी चित्रित किया जाता है जो कि नायक की अपेक्षा न्यूनगुण का हुआ करता है। इस नायक के सहायक को पीठमर्द कहा जाता है। यह त्यागादि गुणों में नायक के समान ही रहता है, किन्तु नायक के अपेक्षा इसमें न्यूनगुण का ही चित्रण किया जाता है।

विट

विट पात्र के विषय में अग्निपुराण में कहा गया है–

श्रीमांस्तद्देशजो विटः।[23]

अर्थात् विट नायक का तद्देशज (अतंरंग) मित्र होता है। इसके विषय में 'साहित्यदर्पण' में कहा गया है–

संभोगहीनसंपद्विटस्तु धूर्त्तः कलैकदेशज्ञः।
विशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठयाम्।।[24]

अर्थात् विट वह नायक का सहायक पात्र है जो कि वैषयिक सुख–भोग में अपनी धन–सम्पत्ति लुटा चुका हो, धूर्त हो, कतिपय कलाओं में निपुण हो, वेशोपचार में चतुर हो, बातचीत में कुशल हो, स्वभाव का मधुर हो और जिसकी गोष्ठी में बड़ी पूछ हो। 'नाट्यशास्त्र' में विट का स्वरूप निर्देश इस प्रकार है–

वेश्योपचारकुशला मधुरो दक्षिणः कविः।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत्।।[25]

विदूषक

विदूषक के स्वरूप के विषय में 'अग्निपुराण' में कहा गया है–

विदूषको वैहसिकः।[26]

अर्थात् विनोदी प्रकृति के नायक सहायक को विदूषक कहा जाता है। इसके सम्बन्ध में 'साहित्यदर्पण' में उल्लिखत है–

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः।।[27]

अर्थात् विदूषक उसे कहते हैं जिसका नाम किसी फूल अथवा वसन्त आदि पर रखा जाया करता है, जिसमें अपने कर्म, अपने शरीर, अपनी वेश–भूषा और अपनी बोल–चाल आदि के द्वारा औरों को हँसाने की क्षमता रहा करती है। जिसे दूसरों से झगड़ने में आनन्द मिला करता है और जो कि अपने विदूषण कार्य में कुशल रहा करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुरुष पात्र के रूप में 'अग्निपुराण' में नायक, नायक के प्रकार के रूप में धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित एवं धीरप्रशान्त नायक का तथा नायक के उपभेद के रूप में अनुकूल, दक्षिण,

शठ, धृष्ट नायक का वर्णन किया गया है। नायक के विशेष सहायक पात्र के रूप में पीठमर्द, विट एवं विदुषक के स्वरूप पर यहाँ प्रकाश डाला गया है। सूत्रधार इत्यादि के विषय में पूर्वरंग में ही इस ग्रन्थ में वर्णन किया गया है। अतः यहाँ 'अग्निपुराण' के नाट्य के प्रमुख पुरुष पात्रों का भली–भांति विश्लेषण करने का पूर्ण प्रयास किया गया है।

स्त्रीपात्र

नाट्य अभिनय में स्त्री पात्रों की महति भूमिका होती है। इनके द्वारा ही रस का पोषण होता है विशेषकर शृङ्गार रस में। नाट्यशास्त्र में स्त्री स्वभाव पर विशेष रूप से वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ स्त्रियों की त्रिविध प्रकृति बतलायी गयी है–

सर्वासामेव नारीणां त्रिविधा प्रकृतिः स्मृताः।
उत्तमा मध्यमा नीचा वेश्यानां तु स्वभावजाः।।[28]

अर्थात् सभी स्त्रियाँ प्रकृति से तीन प्रकार की होती हैं–उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा परन्तु वेश्याओं की प्रकृति अपने स्वभाव के अनुसार होती है। उत्तमा स्त्री के विषय में 'नाट्यशास्त्र' कहा गया है–

या विप्रियेऽपि तिष्ठन्तं प्रियं वदति नाप्रियम।
न दीर्घरोषा च तथा कलासु च विचक्षणा।
शीलशोभाकुलाधिक्यैः पुरूषैर्या च काम्यते।
कुशला कामतन्त्रेषु दक्षिणा रूपशालिनी।
गृह्णाति कारणद्रोषं विगतेर्ष्या ब्रवीति च।
कार्यकालविशेषज्ञा सरूपा सा स्मृतोत्तमा।[29]

अर्थात् जो स्त्री अपनी अप्रियकारी प्रिय को भी कड़े शब्द नही बोलती, जिसमें कोप स्थायी नही रहता, कला और शिल्प में जो विदग्धा हो जो अपने कुल, सुख और धन के श्रेष्ठ होने के कारण अनेक पुरुषों द्वारा चाही जाय। प्रणयोपचार में चतुर हो, ईमानदार (दक्षिण) और सुन्दर रूप से शोभित हो, कारण वश क्रोध करने वाली हो, ईर्ष्या रहित संभाषण करने वाली और कार्य तथा अवसर को समझने वाली एवं सुरूपशालीनि हो तो उसे उत्तमा स्त्री समझना चाहिए। नाट्यशास्त्र में मध्यमा स्त्री के विषय में इस प्रकार कहा गया है–

पुरूषैः काम्यते या तु तथा कामयते च तान्।

कामोपचारकुशला प्रतिपक्षाभ्यसूयिनी।।
ईर्ष्यातुरा त्वनिभृता क्षीणक्रोधातिगर्विता।
क्षणप्रसादा या चैव सा नारी मध्यमा स्मृता।[30]

अर्थात् जो स्त्री पुरुष की कामना करने वाली हो तथा जिसकी पुरुष भी कामना करता हो, जो प्रणयोपचार में चतुर हो, अपने शत्रुओं से द्वेष रखती हो जो प्रकट रूप में ईर्ष्या से आतुर हो जाती हो, जिसका क्रोध क्षण स्थायी हो, जो अति घमण्डी और थोड़े प्रयास में रीझ जाने वाली हो तो उसे मध्यमा स्त्री समझना चाहिए। अधमा स्त्री के विषय में 'नाट्यशास्त्र' में इस प्रकार कहा गया है–

अस्थानकोपना या तु दुष्टशीलातिमानिनी।
चपला परुषा चैव दीर्घरोषाऽधमा स्मृता।।[31]

अर्थात् जो बिना किसी उपयुक्त कारण के ही क्रोध करने वाली हो, जिसकी प्रकृति दुष्ट हो अतिशय घमण्डी हो, चंचल कठोर वाणी वाली हो तथा जिसका क्रोध कभी शान्त न होता हो उसे अधमा स्त्री समझना चाहिए। इन त्रिविधा स्त्री को ही नाट्य रसपोषण का प्राण माना जाता है। यहाँ भी अन्य स्त्री पात्रों की अपेक्षा नायिका का विशेष महत्त्व होता है। एतदर्थ 'अग्निपुराण' में कौशिक के मत का उल्लेख करते हुए तीन प्रकार की नायिकाओं का निर्देश दिया गया है–

स्वकीया परकीया च पुनर्भूरिति कौशिकाः।
सामान्या न पुनर्भूरि इत्याद्या बहुभेदतः।।[32]

अर्थात् कौशिक के मत में नायिकाएँ तीन प्रकार की होती हैं–स्वकीया, परकीया और पुनर्भू। कुछ विद्वानों के विचार में सामान्या नायिका होती है, पुनर्भू नही होती । इस प्रकार नायिका के अनेक भेद हैं। 'साहित्यदर्पण' में नायिका के तीनों भेदों का उल्लेख किया गया है–

अथ नायिका त्रिभेदा स्वान्या साधारणा स्त्रीति।
नायकसामान्यगुणेर्भवति यथासंभवैर्युक्ता।।[33]

अर्थात् नायिका तीन प्रकार की हुआ करती हैं–स्वकीया, अन्या और सामान्या। इस के आलम्बन रूप से काव्य–नाट्य में नायक के त्याग, आर्जव आदि सामान्य यथा संभव उपनिबद्ध किये जाते हैं। आचार्य धनञ्जय भी तीन ही मुख्य नायिकाओं उल्लेख दशरूपक में किये हैं–

स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्‌गुणा नायिका त्रिधा।[34]

अर्थात् उस नायक के समान गुणों वाली नायिका तीन प्रकार की होती है—स्वकीया, परकीया तथा साधारण स्त्री। इन्हीं नायिकाओं से नाट्य अभिनय हुआ करते हैं और ये ही रस की महनीयता को प्रकाशित करती हैं। जैसा कि 'अग्निपुराण' में कहा भी गया है—

उद्दीपनविभावास्ते संस्कारैर्विविधैः स्थिताः।
आलम्बनविभावेषु भावानुद्दीपयन्ती ये।।[35]

अर्थात् विविध नायिकाओं में उद्दीप्त करने वाले संस्कार रहते हैं जो आलम्बन विभावों में विविध भावों को उद्दीप्त कर देते हैं। इसीलिए नायिका को नाट्य की प्राणवाहिनी कहा जाता है। इस प्रकार अग्निपुराणोक्त नायिकाओं का वर्णन अपेक्षित हो जाता है।

स्वकीया नायिका

स्वकीया नायिका के विषय में 'दशरूपक' में कहा गया है—

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक्।[36]

अर्थात् स्वकीया नायिका शील तथा सरलता आदि से युक्त होती है। वह मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा भेद से तीन प्रकार की होती हैं। इसके विषय में आचार्य विश्वनाथ का मानना है—

विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया।
साऽपि कथिता त्रिभेदा मुग्धा मध्या प्रगल्भेति।[37]

अर्थात् स्वीया (स्वकीया) वह स्त्री नायिका है जिसमें नम्रता और सरलता आदिगुण रह. करते हैं, जो गृहकर्म में तत्पर रहा करती है और पतिव्रता हुआ करती है। ये तीन प्रकार की होती हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। मुग्धा नायिका के विषय कहा गया है—

प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा।
कथिता मृदुश्च माने समधिकंलज्जावती मुग्धा।।[38]

अर्थात् उस नायिका को मुग्धा नायिका कहते हैं जिसके शरीर में यौवन अवतरित हो चुका हो, जिसके मन में काम का उन्मेष प्रारम्भ हो रहा हो, उसे रतिलीला में झिझक हो, ज़िसका प्राणयकोप कोमलता लिये हो और जो अपनी लज्जाशीलता के कारण प्रेम प्रकाशन में विवश रहा करे।

मध्यानायिका

मध्यानायिका के विषय में 'साहित्यदर्पण' में कहा गया है–

मध्याविचित्रसुरता प्ररूढस्मरयौवना।
ईषत्प्रगल्भवचना मध्यमव्रीडिता मता।।[39]

अर्थात् मध्या वह नायिका होती है जो रंग–विरंग की रति लीलाओं में निपुण हो चुकी होती है, जिसमें काम पिपासा बढ़ती दिखायी दिया करती है। जिसका यौवन उभार पर रहा करता है। जिसे प्रणयालाप में कोई विशेष हिचक नही हुआ करती और जिसकी रति–लज्जा बहुत अधिक नही रहा करती है।

प्रगल्भानायिका

नायिका के रूप में प्रगल्भानायिका का भी महत्वपूर्ण स्थान होता हैं। इसके विषय में कहा गया हैं–

स्मरान्धा गाढतारुण्या समस्तरतकोविदा।
भावोन्नता दरव्रीडा प्रगल्भाक्रान्तनायका।।[40]

अर्थात् प्रगल्भा वह नायिका होती है जिसमें स्मरोन्माद बढ़ रहा हो, जिसका यौवन पूरे उभार पर पहुँच गया हो, जिसमें रतिलीला के समस्त कौशल समा चुके हो, जिसके हाव–भाव पूर्णरूपेण विकसित हो चुके हो, जिसमें रति लज्जा की थोड़ी मात्रा बच गयी हो और वस्तुतः जो रतिलीला में नायक को भी पछाड़ने की शक्ति रखने वाली हो।

स्वकीया नायिका के दो भेद हैं–मुग्धा और प्रगल्भा। पुनः इनके मानवृत्ति के आधार पर तीन–तीन भेद हो जाता है–धीरा, अधीरा और धीराधीरा। इनमें व्यङ्ग्य पूर्ण वचनों से रोष प्रकट करने वाली 'धीरा', कठोर वचनों से प्रिय को प्रताड़ित करने वाली 'अधीरा' और रो–रोकर अपना क्षोभ एवं रोष को प्रकट करने वाली नायिका धीराधीरा कहलाती है। मध्या और प्रगल्भा नायिका के इन छः भेदों का पुनः ज्येष्ठा और कनिष्ठा ये दो भेद हो जाते हैं। इस प्रकार मध्या और प्रगल्भा नायिका में के कुल बारह भेद हो जाते हैं। एक प्रकार की मुग्धा नायिका होती है। अतः स्वकीया नायिका के कुल तेरह भेद 'साहित्यदर्पण' में बतलाये गये हैं–

मध्याप्रगल्भयोर्भेदास्तस्माद् द्वादश कीर्तिताः।
मुग्धा त्वेकैव तेन स्युः स्वीयाभेदास्त्रयोदश।।[41]

परकीया नायिका

परकीया नायिका नायक की अपनी परिणीता पत्नी नही होती है। वह परपरिणीता या अविवाहिता कन्या इत्यादि होती है। इसके सम्बन्ध में 'दशरूपक' में कहा गया है–

अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाऽङ्गिरसे क्वचित्।
कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादगङ्गिगङ्गि संश्रयम्।।[42]

अर्थात् अन्यस्त्री (परकीया) नायिका दो प्रकार की होती है कन्या तथा विवाहिता। अन्य विवाहिता स्त्री (परोढा) को कभी भी प्रधान रस की नायिका नही बनाना चाहिए। कन्या के अनुराग को तो कवि इच्छानुसार प्रधान या अप्रधान रस का आधार बना सकता है। आचार्य विश्वनाथ परकीया नायिका के विषय में लिखते हैं–

परकीया द्विधा प्रोक्तापरोढा कन्यका तथा।
यात्रादिनिरताऽन्योढा कुलटा गलितत्रपा।।[43]

अर्थात् परकीया नायिका के दो भेद हुआ करते हैं–परोढा, कन्यका। इन द्विविध परकीया नायिकाओं में परोढा वह नायिका है जो यात्रा आदि का शौकीन हुआ करती है, दूसरे लोगों से प्रेम–प्रसंग रखा करती है और जिसे किसी से वार्तालाप अथवा संग साथ में कोई लज्जा नहीं हुआ करती है। कन्यका परकीया नायिका में विषय में आचार्यविश्वनाथ कहते हैं–

कन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना।[44]

अर्थात् कन्यका परिकीया नायिका उसे कहते हैं जो नवयुवती और लज्जाशील हुआ करती है तथा अविवाहिता होती है।

सामान्या नायिका

सामान्या नायिका रति में कुशल, संगीत आदि कलाओं में निपुण, प्रगल्भ तथा धूर्त्त गणिका होती है। उसे धनिकों से प्रेम रहता है। इसके विषय में साहित्यदर्पणाकार लिखते हैं–

धीराकलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्यनायिका।
निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रज्यति गुणिष्वपि।
वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद्वहिः।।
काममङ्गिकृतमपि परिक्षीणधनं नरम्।
मात्रा निःसारयेदेषा पुनःसंधानकाङ्क्षया।।

तस्कराः पण्डका मूर्खाः सुखप्राप्तधनास्तथा।
लिङ्गिनश्छन्नकामाद्या अस्याः प्रायेण वलुभाः।।
एषापि मदनायत्ता क्वापि सत्यानुरागिणी।
रक्तायां वा निरक्तायां रतमस्यां सुदुर्लभम्।।[45]

अर्थात् सामान्या उस नायिका को कहते हैं जो रति कला कुशल किं वा संगीतादि कलाओं में पारगंत हुआ करती है तथा जिसे साधारणतया वेश्या कहा करते हैं। यह नायिका न तो गुणहीन पुरुषों से द्वेष करती है और न गुणी लोगों के प्रेम में पग जाती है। यह केवल धन समृद्धि देखकर किसी से भी बाहरी प्रेम प्रकट किया करती है। इसके लिए यह स्वाभाविक है कि अपने किसी भी प्रेमी धनी व्यक्ति को यदि वह निर्धन हो जाय तो उससे माँ के द्वारा अपने घर से बाहर निकलवा दे और यदि पुनः वह धनी बन जाय तो उससे पुनः प्रेम करने के लिए उत्सुक बन बैठे। इस नायिका के प्रेमी प्रायः ऐसे लोग हुआ करते हैं जो कि चोर, नपुंसक, मूर्ख, विना परिश्रम के धन पाने वाले, सन्यासी, छिपे प्रेमी आदि। कभी–कभी ऐसा भी हुआ करता है कि इस प्रकार की नायिका मदानातुर हो कर किसी के प्रति सच्चा प्रेम भी रखने लगती हैं। ऐसी नायिका के साथ चाहे वह अनुरागवती हो या विरक्त हो, रति प्रसंग की बात बड़ी कठीन हुआ करती है। सामान्या नायिका के दो भेद होते हैं–रक्ता और विरक्ता। किन्तु अन्य आचार्यों ने विरक्ता की अपेक्षा अनुरक्ता को शृंङ्गार रस की दृष्टि से कुलागंना और परकीया से श्रेष्ठ बतलाये हैं। अतः अनुरक्ता का ही नाटकादि के रूप में चित्रण पाया जाता है। विरक्ता भावहीन एवं निर्लिप्त होने के कारण नाटकादि की नायिका नही हो सकती। इस प्रकार सामान्या एक ही प्रकार की नायिका होती है। कुल नायिका भेद प्रभेद के रूप में स्वकीया के तेरह, परकीया के दो, सामान्या के एक भेद होने से कुल नायिका के सोलह भेद माने जाते हैं।

संदर्भ :

1. अभिनवभारती, भाग–3, पृ. 248
2. नाट्यशास्त्र, 24/1
3. साहित्यदर्पण, 3/30
4. अग्निपुराण, 339/37–38
5. वही, 339/39
6. दशरूपक, 2/3

7. साहित्यदर्पण, 3/31
8. वही, 3/32
9. वही, 3/33
10. वही, 3/34
11. वही, 3/34
12. वही, 3/35
13. दशरूपक, 2/6 कारिका व वृत्तिभाग
14. साहित्यदर्पण, 3/37
15. दशरूपक, 2/7
16. साहित्यदर्पण, 3/35
17. दशरूपक, 2/7
18. साहित्यदर्पण, 3/37
19. दशरूपक, 2/6
20. साहित्यदर्पण, 3/36
21. अग्निपुराण, 339/40
22. साहित्यदर्पण, 3/39
23. अग्निपुराण, 339/40
24. साहित्यदर्पण, 3/41
25. नाट्यशास्त्र 35/55
26. अग्निपुराण, 339/40
27. साहित्यदर्पण, 3/42
28. नाट्यशास्त्र, 23/35
29. वही, 23/36–38
30. नाट्यशास्त्र, 23/39–40
31. वही, 24/42
32. अग्निपुराण, 339/41
33. साहित्यदर्पण, 3/56
34. दशरूपक, 2/15
35. अग्निपुराण, 339/42
36. दशरूपक, 2/15
37. साहित्यदर्पण, 3/57
38. वही, 3/58
39. वही, 3/59
40. वही, 3/60
41. वही, 3/65
42. दशरूपक, 2/20–21
43. साहित्यदर्पण,3/66
44. वही, 3/67
45. वही, 3/67–71

□

षष्ठ अध्याय

अभिनय एवं वृत्ति विचार

किसी भी दशा के अनुकरण का नाम अभिनय है (अभि+नी+अच्)। अभिनयकर्त्ता किसी अतीत की घटना अथवा व्यक्ति के रूप का अनुकरण कर उसे दर्शक के सामने प्रस्तुत करता है, वही अभिनय कहलाता है। दृश्यकाव्य अभिनेयता के कारण ही श्रव्य की तुलना में अधिक आह्लादक माना जाता है क्योंकि इसमें हम श्रवणेन्द्रिय एवं नेत्रेन्द्रिय दोनों माध्यमों से रसास्वादन करते हैं। इसी तथ्य को आचार्य भरत इस रूप में उद्घाटित करते हैं–

विभावयति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः।।[1]

अर्थात् जिसके साङ्गोपाङ्ग प्रयोग के द्वारा नाट्य के नानाविध अर्थों का सामाजिक को विभावन या रसास्वादन कराया जाय उसे अभिनय कहा जाता है। हमारे सम्मुख जिस व्यक्तित्त्व सम्बन्धी वार्तालाप चल रही हो उन सबसे उस व्यक्ति की दृश्यता प्रकट करने वाला उस विशिष्ट व्यक्ति से सम्बद्ध प्रस्तुत तथ्य से प्रतीति करने वाली प्रक्रिया को अभिनय कहा जाता है। सामने समुपस्थित अवास्तविक व्यक्ति में वास्तविक के समान आभास कराने वाली प्रवृत्ति का नाम अनुकरण है। कहने का अभिप्राय यह है की मञ्च पर उपस्थित पात्र राम नही होता है, लेकिन वह राम के हाव–भाव का अनुकरण करके मञ्च पर राम रूप में स्थित हो जाता है। जिसके विषय में आचार्य विश्वनाथ कहते हैं–

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः।[2]

अर्थात् अवस्थाओं के अनुकार अथवा अनुकरण का नाम अभिनय है। मञ्च पर पात्र रामादि की अवस्थाओं का अनुकरण करता है, यह उसका

अनुकरण ही अभिनय कहलाता है। यह अभिनय ही रस निष्पत्ति का कारण सिद्ध होता है। रस आनन्द के चर्मोकर्षावस्था का नाम है। भारतीय परम्परा में कला, संस्कृति एवं साहित्य सभी आनन्दमयी है। आचार्यमम्मट काव्यप्रकाश में इस तथ्य को 'ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्'[3] अर्थात् केवल आनन्दमात्रास्वभावा, अन्य किसी के अधीन न रहने वाली ही कविसृष्टि हुआ करती है। यह हमारी भारतीय परम्परा है। लेकिन वही पश्चात्य देशों में त्रासदी को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। हमारे यहाँ आनन्द की परिणति नाट्य में मानी जाती है। लेकिन पाश्चात्य देशों में त्रासदी का महत्त्व ही दृष्टिगोचर होता है। नाट्यधर्मी कमलवशिष्ठ जी का इस सम्बन्ध में कथन है–"यूनान के प्रसिद्ध दर्शानिक अरस्तू नाटक में त्रासदी को महत्त्व देते हैं, उनका मत है कि त्रासदी मनुष्य के आवेगों का विवेचन कर मनोविकारों का शमन कर, उसके दुःख को शिथिल करती है। वहाँ नाटक त्रासदी के रूप में आरम्भ होता है।[4] यही तथ्य हम महाकवि भवभूति विरचित 'उत्तररामचरित' नाटक में पाते हैं जहाँ करुण रस की अभिव्यक्ति से ही मानव अपने हृदय में भरे अनुभूति को आसुओं के रूप में निकलता है और जीवन धारण करने में समर्थ हो पाता है–

पूरोत्पीडे तटाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते।।[5]

अर्थात् तालाब में जल–प्रवाह की अधिकता होने पर जल को बाहर निकालना ही उसका एक मात्र प्रतिकार है। शोक जन्य क्षोभ में हृदय विलाप के द्वारा ही बचाया जाता है। कहने का भाव यह है कि जब व्यक्ति शोक के कारण व्याकुल होता है, उस समय रुदन कर लेने से उसका गुबार निकल जाता है और और शान्त हो जाता है। इसके प्रमाण स्वरूप भवभूति पुनः आगे कहते हैं–

इदं विश्वं पाल्यं विधिवदभियुक्तेन मनसा।
प्रियाशोको जीवं कुसुममिव घर्मो ग्लपयति।
स्वयं कृत्त्वा त्यागं विलपनविनोदोऽप्यसुलभ।
स्तदद्याव्युच्छ्वासो भवति ननु लाभो हि रुदितम्।।[6]

अर्थात् सावधान मन से संसार का विधिपूर्वक पालन करना पड़ता है। जिस प्रकार धूप फूल को उसी प्रकार सीता विषयक शोक राम के जीवन को सुखा रहा है। स्वयं परित्याग करने के कारण विलाप के द्वारा मनोविनोद

भी सुलभ नहीं है फिर भी आज तक राम प्राण धारण किए हुए हैं। अतः रोना भी वस्तुतः लाभकारी सिद्ध हुआ है। इस प्रकार यहाँ भी दुःख से सुख की अनुभूति साहित्य में मानी जाती रही है। आचार्यभरत अपने नाट्यशास्त्र में ही रस को दुःखात्मक मानने की परम्परा का सूत्रपात्र कर दिया था–

लौकिकी सुखदुःखाख्या यथावस्था रसोद्भवा।[7]

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य केवल इतना है कि त्रासदी मानव जीवन का एक अभिन्न हिस्सा है। सुख–दुःख प्रकृति का नियम है लेकिन काव्य में वह सदैव आनन्द का ही पोषण करता है।

'अग्निपुराण' नाट्यधर्मों का सहज विश्लेषण करने वाला ग्रन्थ है। यहाँ अभिनय के सम्बन्ध में कहा गया है–

आभिमुख्यं नयन्नर्थान्विज्ञेयोऽभिनयो बुधैः।
चतुर्धा संभवः सत्त्ववागङ्गहरणाश्रयः।।[8]

अर्थात् नाटक की वर्ण्य–वस्तु को दर्शकों के समक्ष लाने वाला अभिनय ही होता है। वह अभिनय चार प्रकार का होता है–सत्त्वाश्रय, वागाश्रय अंगाश्रय और आहरणाश्रय। जो सुख–दुःख मनोभावों का अभिव्यंजक होता है, उसे सत्त्वाश्रय या सात्त्विक अभिनय कहा जाता है। वाणी के द्वारा काव्य एवं संबादादि का अभिनय वागाश्रय या वाचिक अभिनय कहलाता है। जिसमें विभिन्न प्रकार के अंगों का प्रदर्शन किया जाय उसे अंगाश्रय या आङ्गिक अभिनय कहते हैं। वेश–भूषा आदि नेपथ्य–विधियों से सम्बन्धित अभिनय आहरणाश्रय या आहार्य अभिनय कहलाता है। 'आचार्यनन्दिकेशवर' इन चारों अभिनयों को नटराज शिव के चार रूप मानते हैं और उन्हें ही अधिष्ठाता भी–

अङ्िक भुवनं यस्य वाचिंक सर्ववाङ्मयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम्।।[9]

इस प्रकार दृश्य वस्तुओं रंग मञ्च पर जो व्यापार दर्शकों के लिए प्रदर्शित किया जाता है उसे अभिनय कहा जाता है। अभिनय स्वयं के लिए नहीं सामाजिक के लिए ही किया जाता है। इन अभिनयों के अतिरिक्त 'नाट्यशास्त्र' में दो और अभिनयों का उल्लेख मिलता है–सामान्याभिनय ओर चित्राभिनय। 'नाट्यशास्त्र' का यह अभिनय विभाजन परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य नहीं है। अतः शुद्ध रूप से अग्निपुराणोक्त चार ही अभिनय स्वीकार किये जाते हैं।

सत्त्वाश्रय अभिनय

मन को सत्त्व कहते हैं इस प्रकार सात्त्विक भावों से किया गया अभिनय सात्त्विक या सत्त्वाश्रय अभिनय कहलाता है। 'अग्निपुराण' में इसके सम्बन्ध में कहा गया है–

स्तम्भादिः सात्त्विको वागरम्भो वाचिकः।[10]

अर्थात् स्तम्भादि सात्त्विक भावों का प्रदर्शन सात्त्विक या सत्त्वाश्रय अभिनय कहलाता है। यह अभिनय नाट्य प्रशंसा का परिचायक माना जाता है। सात्त्विक भाव पूर्ण होने पर ही नाट्याभिनय की प्रशंसा की जाती है। 'नाट्यशास्त्र' में सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत स्त्री–पुरुषों के शृङ्गार सम्बन्धी अनेक प्रकार के हाव–भाव आदि का वर्णन किया गया है। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय ये आठ सात्त्विक भाव आचार्य भरत के द्वारा बताया गया है।[11] 'अभिनयदर्पण' में आचार्य नन्दिकेश्वर सात्त्विक अभिनय के विषय में कहते हैं–

सात्त्विकः सात्त्विकैर्भावैर्भावज्ञेन विभावितः।[12]

अर्थात् भावज्ञ व्यक्तियों के से सात्त्विक भावों के द्वारा किया गया अभिनय सात्त्विक अभिनय कहलाता है। यह अभिनय अष्टविध सात्त्विक भावों पर अवलम्बित होता है। इन्हीं सात्त्विक भावों के द्वारा पात्र बिना मुख से शब्द उच्चरण किये सामाजिक के समक्ष अपने मनोगत भावों को प्रकट कर देता है। यह अभिनय की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। इसमें अभिनेता जिसका अनुकरण करता है उसके समान बन कर अपने भाव से सामाजिक को अवगत करता है। यह प्रक्रिया बहुत ही कठिन होती है क्योंकि हम बोल कर, चलकर इत्यादि द्वारा तो अपने मन की बात आसानी से सामाजिक तक पहुंचा सकते हैं। लेकिन बिना किसी संकेत के केवल भाव प्रदर्शित कर अपना मनोगत भाव ज्ञापित करना कठिन अवश्य है क्योंकि पात्र जब तक इसमें अनुकरणीय को अपने जीवन में उतार नही लेता तब तक यह स्थिति नहीं बन पाती है कि वह अपने मनोगत भाव को सामाजिक को प्रस्तुत कर सके।

वागारम्भ अभिनय

मञ्च पर वाणी का प्रदर्शन करना वागारम्भ या वाचिक अभिनय कहलाता है। इसमें नटों तथा पात्रों का पाठ्य विधान रहता है। पाठ्य के द्वारा ही

सभी पात्र अपनी भावना को व्यक्त करते हैं। अग्निपुराण में इसके सम्बन्ध में कहा गया है–

वागारम्भो वाचिकः।[13]

अर्थात् वाणी से सम्बद्ध अभिनय को वाचिक अभिनय कहते हैं। नाट्य में कथनोपकथन का विशेष महत्त्व होता है। इसीलिए आचार्यभरत इसे नाट्य का शरीर कहते हैं तथा उस कार्य के प्रति विशेष यत्न करने पर बल देते हैं–

वाचि यत्नस्तु कर्त्तव्यो नाट्यस्येयं तनुःस्मृता।
अङ्गेनेपथ्यपत्त्वानि वाक्यार्थ व्यञ्जयन्ति हि।।[14]

नाट्य में जिस वार्तालाप या कथनोंपकथन का प्रयोग किया जाता है वह जीवन का सम्पूर्ण परिस्थिति के साथ सजीव रूप में प्रयुक्त होता है। नाटकीय कथनोपकथन हमारे चिन्तन एवं मनन के अनुसार ही प्रयोग में लाये जाते हैं। पात्र के अनुसार ही पाठ्य का विनिमय किया जाता है। पाठ्य दो प्रकार के होते हैं–संस्कृत तथा प्राकृत। उच्च कोटि के पात्र की संस्कृत में पाठ्य योजना हुआ करती है और जन–साधारण पात्रों की प्राकृत में। वाणी के महत्त्व का प्रकाशन करते हुए 'नाट्यशास्त्र' में कहा गया है–

वाङमयानीह शास्त्राणि वाङ्निष्ठानि तथैव च।
तस्माद्वाचः परं नास्ति वाग् हि सर्वस्य कारणम्।।[15]

अगांश्रय अभिनय

अङ्गों के द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाला अभिनय को अङ्गाश्रय अभिनय या आङ्गिक अभिनय कहते हैं–अग्निपुराण में आङ्गिक अभिनय के सम्बन्ध में कहा गया है कि शरीर से सम्बन्धित अभिनय को आङ्गिक अभिनय कहा जाता है।[16] यह अभिनय नेत्र, मुख, हस्त तथा पाद आदि अवयवों से सम्बन्धित है। नाट्यशास्त्र में आङ्गिक अभिनय तीन प्रकार बतलाये गये हैं–शरीरज, मुखज, और चेष्टाकृत–

त्रिविधस्त्वाङ्गिको ज्ञेयः शरीरो मुखजस्तथा।
तथा चेष्टाकृतश्चैव शाखाङ्गोपाङ्ग संयुतः।।[17]

इसमें शरीरज अभिनय अङ्ग और उपाङ्ग से सम्बन्धित होता है। केवल उपाङ्गों द्वारा किया गया अभिनय मुखज कहलाता है और चेष्टाओं द्वारा किया जाने वाला अभिनय चेष्टाकृत अभिनय कहलाता है। अतः स्पष्ट है

कि अङ्ग, प्रत्यंग और उपागों के द्वारा किये जाने वाले अभिनय का नाम आङ्गिक अभिनय है। आङ्गिक अभिनय के छः अङ्ग होते हैं, प्रत्यङ्ग भी छः ही होते हैं। दोनों स्कन्ध, दोनों बाहु, पीठ, उदर, दोनों उरू, दोनों जङ्घाएँ और छः उपाङ्ग है। इस प्रकार उपर्युक्त अङ्ग–प्रत्यङ्ग और उपाङ्ग से सम्बन्धित अभिनय आङ्गिक अभिनय कहलाता है। आङ्गिक अभिनय का उल्लेख करते हुए पं. बलदेव उपाध्याय दक्षिण भगत के राजा राजसिंह का स्मरण इस रूप में किया है–"इन अङ्गहारों का रूप भी समझना आजकल के लिए असम्भव हो जाता परन्तु धन्यवाद है तेरहवीं शती में दक्षिण भारत पर शासन करने वाले राजसिंह (1124 ई. से 1273ई.) को जिन्होंने चिदम्बरम् के सुप्रसिद्ध शैव मन्दिर के गोपुरं में इन समग्र करणों से नाट्यशास्त्र के तद्विषयक श्लोकों के साथ खुदवाया है। ये आज भी नटराज मन्दिर की शोभा बढ़ा रहे हैं।[18]

'अग्निपुराण' में आङ्गिक अभिनय के रूप में चेष्टाओं का वर्णन किया गया है। अङ्गिक अभिनय के द्वारा नायक–नायिकादि की विशेषचेष्टाएं प्रदर्शित की जाती हैं। ये चेष्टाएं बारह होती हैं–लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित, विकृत, क्रीडित और केलि।[19] यहाँ अङ्ग–प्रत्यङ्ग के सम्बन्ध में भी बताया गया है। छः प्रकार अङ्ग हैं–सिर, हाथ, वक्ष, पार्श्व, कटि, पाद और छः प्रत्यङ्ग है–भ्रू, नेता, नासिका, श्रेष्ठ, कपोल और चिबुक।[20]

'अग्निपुराण' में शिरोऽभिनय के तेरह भेदों का उल्लेख करते हुए कहा गया है–

आकम्पितं कम्पितं च धुतं विधुतमेव च।
परिवाहितमाधूतमवधूतमथाऽऽचितम्।
निकुञ्चितं परावृत्तमुत्क्षिप्तं चाप्यधोगतम्।।
ललितं चेति विज्ञेयं त्रयोदशविधं शिरः।।[21]

अर्थात् आकम्पित, कम्पित, धुत, विधुत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अचित, निकुंचित, परावृत्त, उत्क्षिप्त, अधोगत तथा ललित ये शिरोऽभिनय के तेरह प्रकार हैं। हस्ताभिनय का दो प्रकार होता है–असंयुतहस्त और संयुतहस्त। उनमें असंयुतहस्त के चौबीस भेद 'अग्निपुराण' में इस प्रकार बतलाये गये हैं–

पताकस्त्रिपताकश्च तथा वै कर्तरीमुखः।
अर्धचन्द्रोत्करालश्च शुकतुण्डस्तथैव च।
मुष्टिश्च शिखरश्चैव कपित्थः कटकामुखः।।
सूच्यास्य पद्मकोषोहि शिराः समृगशीर्षकः।
कामूलकालपद्मौ च चतुरभ्रमरौ तथा।।
हसांस्यहंसपक्षौ च संदंशमुकुलौ तथा।
उर्णानाभस्ताम्रचूडश्चतुर्विंशतिरित्यमी।।[22]

अर्थात् पताका, त्रिपताका, कर्तरीमुख, अर्धचन्द्र, उत्कराल, शुकतुण्ड, मुष्टि, शिखर, कपित्थ, कटाकामुख, सूच्यास्य, पद्मकोष, अहिथिर, मृगशीर्षक, कामूल कालपक्ष, चतुर भ्रमर हंसास्य, हंसपक्ष, संदर्श, मुकुल, उर्णनाभ, ताम्रचुड–ये चौबीस असंयुतकर कहे गये हैं। सयुंतहस्त या कर दोनों को मिलाकर अभिनय किया जाता है। इसके तेरह भेद होते हैं–

अञ्जलिश्चकपोतश्च कर्कटः स्वस्तिकस्तथा।
कटको वर्धमानश्चाप्यसङ्गो निषधस्तथा।
दोलः पुष्पपुटश्चैव तथा मकर एव च।।
गजदन्तो बहिःस्तम्भो वर्धमानोऽपरे कराः।।[23]

अर्थात् अजंलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, कटक, वर्धमान, अप्यसंग, निषध, ढोल, पुष्पपुट, कमठ, गजदन्त, वहिःस्तम्भ ये तेरह संयुतहस्त के भेद हैं। नृत्यादि में वक्ष संचालन पांच प्रकार से किये जाते हैं–आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकम्पित, उद्वाहित और सम।[24] 'अग्निपुराण' में उदर के तीन भेद बतलाये गये हैं–

उदरं त्वनतिक्षामं खण्डं पूर्णमिति त्रिधा।[25]

अर्थात् उदर प्रदर्शन तीन प्रकार से किया जाता है–अनतिक्षाम, खण्ड और पूर्ण। इन सबके अतिरिक्त 'अग्निपुराण' में पार्श्व भाग के पांच कर्म, जघांओं के कर्म भी पांच प्रकार और नाटक में नृत्यादि में पादकर्म भी अनेक प्रकार के होते हैं यह बताया गया है।[26]

'अग्निपुराण' में भृकुटिपात के सात भेद बतलाये गये हैं–पातन, उत्क्षेप, भ्रुकुटि, चतुर, कुञ्चित, रेचित, और सहज।[27] यहाँ छत्तीस प्रकार की दृष्टियां बतलाई गयी हैं।[28] इसमें रजसा दृष्टि के आठ भेद है, स्थायी भावजा की दृष्टि भी आठ बतलाई गयी है तथा संचारी भाव की दृष्टियाँ बीस प्रकार की होती हैं। इन दृष्टियों के द्वारा विविध प्रकार के रसों का उन्मेश होता

है। 'अग्निपुराण' के अनुसार तारका कर्म नौ प्रकार का है। नासिका की गति सोलह मानी गयी है और निःश्वास की गति नौ ही है।[29] नृत्य में ओष्ठ के कर्म यहाँ सोलह बताये गये हैं और चिबुक की क्रियाएं सात प्रकार की मानी गयी हैं। मुख का प्रदर्शन कलुष आदि के भेद से सोलह प्रकार का है और ग्रीवा की नौ गतियाँ बतलाई गयी है।[30] इस प्रकार 'अग्निपुराण' में विस्तारपूर्वक आंगिक अभिनय का विवेचन किया गया है।

आहरणाश्रय अभिनय

जिस अभिनय के अन्तर्गत वेश–भूषा तथा आभूषणों का विधान किया जाता है उसे आहरणाश्रय या आहार्य–अभिनय कहा जाता है, अग्निपुराण में इसके सम्बन्ध में कहा गया है–

आहार्यो बुद्धयारम्भप्रवृत्तयः।[31]

अर्थात् वृद्धि से सम्बद्ध अभिनय को आहार्य अभिनय कहते हैं। यहाँ बुद्धि का अभिप्राय यह है कि अभिनेता देश–काल के अनुसार वस्त्रादि को धारण करना चाहिए। आचार्य भरत आहार्य–अभिनय के सम्बन्ध में कहते हैं–

आहार्याभिनयो नाम ज्ञेयो नेपथ्यजो विधिः।
तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु नाट्यस्य शुभमिच्छता।।
नानावस्थाः प्रकृतयः पूर्वनेपथ्यसाधिताः।
अङ्कादिभिरभिव्यक्तिमुपगच्छन्त्ययत्नतः।।[32]

अर्थात् नेपथ्य रचना का विधान आहार्य अभिनय कहलाता है। जो नाट्यप्रयोग में सफलता के आंकाक्षी हैं। उन्हें इस पर अधिक ध्यान देना चाहिए। नाटक में पात्रों की विविध अवस्था तथा प्रकृति रहती हैं, अतः पात्रों को पहले नेपथ्य विधान से पूर्ण करने पर ये अपनी सहज शरीर रचना तथा चेष्टाओं के द्वारा सरलता से भावों को अभिव्यक्त कर देते हैं। नेपथ्य रचना विधान को आहार्य अभिनय कहने का तात्पर्य वेश–भूषा विन्यास से है। क्योंकि सभी वेश–भूषा का प्रयोग नेपथ्य में ही होता है। नेपथ्य में ही सभी पात्र अवस्थानुरूप वेश–विन्यास, अलंकार विधान, अगंरचना इत्यादि का प्रयोग करते हैं। आचार्य भरत के अनुसार आहार्य अभिनय के चार प्रकार होते हैं–पुस्त, अङ्गकार, अङ्गरचना और सञ्जीव।

इस प्रकार अग्निपुराण में प्रथमतः सत्त्वाश्रय–अभिनय, वागाश्रय–अभिनय,

अङ्गाश्रय–अभिनय और आहरणाश्रय–अभिनय का वर्णन किया गया है। यह वर्णन क्रमशः भाव, वाणी, अंग और परिधान के मूर्त रूप में प्रकट किया गया है जो क्रमशः आसान होता गया है।

वृत्ति

नाट्य प्रयोग में वृत्तियों का विशेष महत्त्व होता है। नायक के व्यापार को वृत्ति कहते हैं, वृत्ति का अर्थ है नट की क्रिया व्यापार जिसका रूपक में प्रदर्शन होता है। वृत्ति केवल वही नहीं है जिसका शरीर के विभिन्न अंगों से प्रदर्शन किया जाता है अपितु मन तथा वाणी के अन्तर्गत सम्पूर्ण व्यापार भी वृत्ति ही कहलाती है। नाट्य रस रूप में वृत्तियों की स्थिति अन्यतम है इसीलिए ये नाट्य की मातृभूता होती हैं–**वृत्तयो नाट्यमातरः।**[33] सभी प्रकार के काव्यों का अस्तित्त्व का कारण विविध स्वरूप वाली वृत्तियाँ ही हैं। इसीलिए इन्हें माता कहा गया है। नाट्य में उन मानवीय स्थायी भावों को प्रदर्शित किया जाता है जो मानव जीवन के अभिलषित चारों पुरुषार्थों के सिद्धि में शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक व्यापारों के रूप में सहायक होते हैं। 'अग्निपुराण' में इसके सम्बन्ध में कहा गया हैं–

क्रियास्वविषमा वृत्तिभारत्यारभटी तथा।
कौशिकी सात्त्वती चेति सा चतुर्धा प्रतिष्ठिता।।[34]

अर्थात् क्रियाओं (नायकादि के कार्यों) में नियमपूर्वक व्यवहार को वृत्ति कहते हैं। इसके भारती, आरभटी, कौशिकी (केशिकी) सात्त्वती ये चार भेद हैं। अतः वृत्तियाँ पात्रनिष्ठ होती हैं, पात्रों के क्रिया–कलाप का नियमपूर्वक व्यवहार ही वृत्ति कहलाती है। फलस्वरूप अभिनय की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व होता है। यह एक ऐसा अभिनेतृ व्यापार है जिसका कर्ता स्वहित की साधना से सम्बन्धित नही होता है अपितु सामाजिक का रसास्वादन ही इसका मूलोद्देश्य हुआ करता है।

वृत्ति के उद्गम के सम्बन्ध में आचार्य भरत ने इसकी पौराणिक कथा प्रस्तुत की है।[35] सृष्टि की प्रलयावस्था में जब समग्रतः संसार एक समुद्र के रूप में ही अवशेष था तथा श्रीविष्णु शेषनाग पर सो रहे थे तभी वीर्य एवं बल से उन्मत्त मधु एवं कैटभ नामक दो भयानक दैत्यों ने श्रीविष्णु को युद्ध के लिये बार–बार ललकारने लगे। ये दोनों दानव अपने पुष्ट भुजाओं को बार–बार मसलते हुए एवं जानु और मुष्टियों के प्रहार को करते हुए

श्रीविष्णु के साथ युद्ध करने लगे। युद्ध करते हुए उन्होंने इतने वेगपूर्ण कठोर एवं तिरस्कार भरे वचनों का प्रयोग किया कि उससे महासागर भी कापने लगा। ऐसी विषमावस्था के उत्पन्न होने पर ब्रह्मा ने श्रीविष्णु से निवेदन किया कि क्या भारती वृत्ति ही या प्रवृत्त हो रही है--श्रीविष्णु ने प्रति उत्तर दिया कि नाट्यक्रिया के लिए वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं जिसकी मैने रचना की है। दैत्यों से द्वन्द्व युद्ध करते हुए जब अपने पादन्यास पृथ्वी पर बल देकर रखे तो भूमि पर अधिक भार होने से वाक्यभूमिष्ठा भारतीवृत्ति उत्पन्न हुई। उनके शार्ङ्ग नामक धनुष को वीर रसोचित रीति से संचालन करने पर सात्त्वतीवृत्ति का जन्म हुआ। महाविष्णु के विभिन्न अङ्गहारों एवं लीलापूर्ण चेष्टाओं के साथ केश संयमन करने से कौशिकी वृत्ति तथा वेग उत्साह एवं उद्धत चारियों के साथ द्वन्द्वयुद्ध करने से आरभटी वृत्ति की उत्पत्ति हुई। यहां आचार्य भरत के पौराणिक मान्यतानुसार वृत्तियों के उद्गम पर प्रकाश डाला है। आचार्य भरत ने वृत्तियों के जन्म के सम्बन्ध में पौराणिक परम्परा के अतिरिक्त वैदिक स्रोत की भी कल्पना की है। उनके अनुसार संवाद प्रधान 'ऋग्वेद' से भारती वृत्ति, अभिनय प्रधान 'यजुर्वेद' से सात्त्वती वृत्ति, गीत प्रधान 'सामवेद' से कैशिकी वृत्ति और रस प्रधान 'अर्थववेद' से आरभटी वृत्ति उत्पन्न हुई--

ऋग्वेदाद्भारती क्षिप्ता वृत्तिर्यजुर्वेदाच्च सात्वती।
कौशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणात्तथा।।[36]

अग्निपुराण में वृत्तियां की संख्या चार--भारती, आरभटी, कैशिकी और सात्त्वती बतलाई गयी है। आचार्य भरत भी चार ही वृत्तियाँ स्वीकार करते हैं, लेकिन उद्भट सात्त्वती तथा कौशिकी वृत्ति को अस्वीकार करते हुए उसके स्थान पर फलसंवित्ति नामक वृत्ति को माना है। इस प्रकार उद्भट भारती, आरभटी तथा फलसंवित्ति नामक तीन वृत्तियाँ स्वीकार करते हैं। आचार्य भोज के द्वारा दो और वृत्तियाँ मानी गयी है--मध्यम आरभटी और मध्यम कैशिकी। इस प्रकार आचार्य भोज कुल छः वृत्तियाँ मानते हैं।

भारती वृत्ति

भारती वृत्ति वाक्व्यापार प्रधान वृत्ति है। 'अग्निपुराण' में इसके सम्बन्ध में कहा गया है--

वाक्प्रधाना नरप्राया स्त्रीयुक्ता प्राकृतोक्तिता।
भरतेन प्रणीतत्वाद्भारती रीतिरुच्यते।।[37]

अर्थात् भारतीवृत्ति में शब्दों के महत्त्व पर अधिक ध्यान दिया जाता है और स्त्री पात्रों के द्वारा प्राकृत प्रयोग कराया जता है। भरतमुनि प्रवर्तित या प्रणीत होने के कारण इसका नाम भारती पड़ा। इस प्रकार यह विदित होता है कि वृत्तियाँ आचार्य भरत के द्वारा ही प्रतिपादित हैं और यह अग्निपुराण भी आचार्यभरत के बहुत बाद की रचना है, सिद्ध होता है। भारती वृत्ति वाग्व्यापारमयी होने के कारण सर्वत्र विद्यमान रहा करती है तथा चारों वृत्तियों में प्रमुखता के कारण इसका प्रथमोल्लेख किया गया है। अग्निपुराण में भारतीवृत्ति के चार अङ्ग बतलाते हुए कहा गया है–

चत्वार्यङ्गानि भारत्या वीथी प्रहसनं तथा।
प्रस्तावना नाटकादेर्वीथ्यङ्गाश्च त्रयोदश।।
उद्घातंक तथैव स्याल्लपितं स्याद्द्वितीयकम्।
असत्प्रलापो वाक्श्रेणी नालिकाविपणं तथा।।
व्याहारस्त्रिमतं चैव च्छलावस्कन्दिते तथा।
गण्डोऽथ मृदवश्चैव त्रयोदशमथोचितम्।।
तापसादेःप्रहसनं परिहासपरं वचः।[38]

अर्थात् भारती वृत्ति के चार अङ्ग हैं–प्रोचना, वीथी, प्रहसन और प्रस्तावना। वीथी के निम्नलिखित तेरह अङ्ग हैं–उद्घातंक, लपित, असत्प्रलाप, वाक्श्रेणी, नाटिका, विपण, व्यवहार, त्रिमत, छल, अवस्कन्दित, गड, मृदु, अथोचित। प्रहसन नामक एकांकी में तपस्वी आदि के लिए हास्यपरक वचन प्रयुक्त किये जाते हैं। इसमें प्रोचना पूर्वरंग का अङ्ग होती है। आमुख या प्रस्तावना के पांच भेद होते हैं–उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय प्रवृत्तक, अवलगित।

आरभटी वृत्ति

जहां वीरों के क्रोध वेग, कपट, प्रपंच, छल, दम्भ, असत्यभाषण, उद्भ्रन्त, चेष्टा, बन्धन, तथा बध आदि की प्रमुखता हो तो वहाँ आरभटी वृत्ति होती है। 'अग्निपुराण' में आरभटी वृत्ति को परिभाषित करते हुए कहा गया है–

मायेन्द्रजालयुद्धादि बहुलाऽऽरभटी स्मृता।
संक्षिप्तकारपातौ च वस्तूत्थापनमेव च।।[39]

अर्थात् आरभटी वृत्ति में मायावी और अद्‌भुत दृश्य रहते हैं और युद्ध आदि की बहुलता रहती है। संक्षिप्तक, अवपात और वस्तूत्थापन ये इसके तीन भेद होते हैं। 'नाट्यशास्त्र' में इनकी संख्या चार बतलायी गयी है—संक्षिप्तक, अवपात, वस्तूत्थापन तथा सम्फेट।[40]

सात्त्वती वृत्ति

सत्त्व प्रधान व्यापारों की प्रमुखता रहने के कारण इसे सात्त्वती वृत्ति कहते हैं। 'नाट्यशास्त्र' में इसके विषय में कहा गया है—

या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः।।[41]

अर्थात् जो वृत्ति सात्वतगुण, न्याय तथा छन्द (वृत्त) से युक्त हो, जिसमें हर्ष अधिक तथा शोक का अत्यन्त अभाव हो वह सात्त्वती वृत्ति होती है। इसमें वीर, अद्‌भुत तथा रौद्र रसों की प्रचुरता रहा करती है एवं शान्त एवं करुण रसों का निषेध हुआ करता है। इस वृत्ति में उद्धत पात्रों की अधिकता होती है। सात्त्वती वृत्ति के चार प्रभेद होते हैं—उत्त्थापक, परिवर्तक, संलापक और संघात्य।[42]

कैशिकी वृत्ति

जो मनोहारी वेष विन्यास से विचित्रता लिये हुए स्त्री पात्रों से युक्त तथा नृत्य से सरस काम—भाव से समृद्ध शृङ्गार रसात्मक व्यापार वाली होती है उसे कैशिकी वृत्ति कहते हैं। 'नाट्यशास्त्र' में इसके सम्बन्ध में कहा गया है—

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति।।[43]

अर्थात् जो आकर्षक भेष के कारण विशेष सुरुचिपूर्ण हो, जिसमें स्त्री पात्रों तथा अनेक प्रकार के नृत्यों एवं गीतों का समावेश हो तथा जिसमें प्रणयव्यापार, विलास, आमोद बहुल प्रसंगों का प्रदर्शन हो उसे कैशिकी वृत्ति समझना चाहिए। कैशिकी वृत्ति के चार भेद होते हैं—नर्म, नर्मस्फुञ्ज, नर्मस्फोट, तथा नर्मगर्भ।[44] इन चार अङ्गों के वेश वाक्य तथा चेष्टां भेदों के क्रम से बारह भेद हो जाते हैं।

'अग्निपुराण' में वृत्तियों के नाम के सम्बन्ध में आता है कि भरत नामक

राजा के द्वारा प्रकाशित होने के कारण भारतीवृत्ति, अरभट के द्वारा प्रकाशित आरभटी, कुशिक राजा द्वारा कौशिकी और सात्वत राजा के द्वारा प्रकाशित होने से सात्त्वती वृत्ति कहलाती है। इससे निश्चित होता है कि भरत के अतिरिक्त तीन और नाट्यशास्त्र के आचार्य थे जिनके ग्रन्थ का परिचय नहीं मिलता है। यह अग्निपुराण की मौलिक कल्पना है।

संदर्भ :

1. नाट्यशास्त्र, 8/7
2. साहित्यदर्पण, 6/2
3. काव्यप्रकाश, 1/1
4. दत्ता कुसुमभूरिया सं. नाट्यशास्त्रीय मूल तत्त्वों की विकास परम्परा, पृ. 52
5. उत्तररामचरित, 3/29
6. वही, 3/30
7. नाट्यशास्त्र, 19/6
8. अग्निपुराण, 342/1
9. अभिनयदर्पण, 1/1
10. अग्निपुराण, 342/2
11. नाट्यशास्त्र, 7/95
12. अभिनयदर्पण, 40
13. अग्निपुराण, 342/2
14. नाट्यशास्त्र, 14/2
15. नाट्यशास्त्र, 14/3
16. अग्निपुराण, 342/2 आङ्गिकः/शरीरारम्भ
17. नाट्यशास्त्र, 8/11
18. उपाध्याय, प. बलदेव, संस्कृत आलोचना, पृ. 139
19. अग्निपुराण, 341/2–3
20. वही, 341/5–6
21. वही, 341/7–9
22. वही, 341/13–16
23. वही, 341/17–19

24. वही, 341/19
25. वही, 341/20
26. वही, 341/20–21
27. वही, 341/9
28. वही, 341/10
29. वही, 341/11
30. वही, 341/12
31. वही, 342/2
32. नाट्यशास्त्र, 21/2–3
33. नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती, भाग दो, पृ. 480
34. अग्निपुराण, 340/5
35. नाट्यशास्त्र, 20/2–16
36. वही, 20/25
37. अग्निपुराण, 340/6
38. वही, 340/7–10
39. वही, 340/10–11
40. नाट्यशास्त्र, 20/58
41. वही, 20/41
42. वही, 20/44
43. वही, 20/53
44. वही, 20/46

□

सप्तम् अध्याय

रस–विमर्श

नाट्य–तत्त्व के वस्तु, नेता और रस में रस तत्त्व का नाट्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व होता है।

रसौ वै सः[1]

अर्थात् इस वैदिक श्रुति के आधार पर रस को आनन्द स्वरूप ब्रह्म माना गया है। इसी श्रुतिवाक्य के आलोक में भारतीय मनीषियों ने जीवन के परम उद्देश्य के रूप में अलौकिकानन्द स्वरूप तत्त्व (ब्रह्मरस) को परिभाषित करने का प्रयास किया है। वही रस काव्य जगत् में अपने अनुभूयात्मकता के कारण विगलित वेद्यान्तर के रूप में स्वीकार किया जाता है। रस जीवन का सार है, समस्त जीवन जगत् रस के लिए है। पशु–पक्षी, जीव–जगत् सभी रस रूप आनन्द की अनुभूति करते हैं। मयूर वर्षा–ऋतु में आनन्द की अनुभूति से भीग कर ही नृत्य करता है। उसका नर्तन रसपेशलता का प्रमाण है। वह आनन्दघन को देखकर मचल पड़ता है। उसका यह नर्तन स्वाभाविक धर्म नही कहा जा सकता है। वह तो आनन्दातिरेक का प्रकाशन करता है। हमारे कहने का भाव यह है कि रसानुभूति मनुष्य के साथ–साथ पशु–पक्षियों में भी होती है क्योकि आनन्द–प्राप्ति सभी प्राणी का उद्देश्य होता है। इसी लिए साहित्यानुशीलन की दृष्टि से काव्यानुभूति का निरूपण करना और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। काव्यानुभूति का प्रतिपादन हमारे काव्य मनीषियों ने तीन प्रकार से किया है–वस्तु, अलंकार और रस।

जब भी हम किसी नवीन तथ्य से अवगत होते हैं या हमारी ज्ञान राशि जब किसी नूतन तत्त्व से समन्वित होकर चिर–परिचित वस्तुज्ञान से पृथक् दिखलाई पड़ने लगती है तो उसे वस्तु की संज्ञा दी जाती है। काव्यानुभूति

का दूसरा प्रकार वैचित्र्य है, जिसकी अनुभूति अलंकारों के द्वारा होती है। इसमें हम क्षण भर के लिए शब्द–अर्थ के सन्निवेश से चमत्कृत हो जाते हैं जो हमारे लोक–व्यवहार से सर्वथा पृथक् रहा करती है और काव्यानुभूति का तीसरा भेद वह है जो हमे स्वयं से युक्त कर विगलित वेद्यान्तर की स्थिति में पहुंचा देता है, जिसका उल्लेख भी ऊपर किया जा चुका है। इस अवस्था में न तो हमें किसी नवीन ज्ञान का बोध रहता है और नही विचित्रता की अनुभूति ही। इन दोनों प्रकार के अनुभवों से सर्वथा एक पृथक् विलक्षण अनुभूति से हमारा हृदय आह्लादित हो जाता है। हमारे अंग–प्रत्यंग फड़क उठते हैं और रोम–रोम में लोकोत्तरता का सञ्चार हो जाता है उसे ही रस कहते हैं। जिसके विषय में 'अग्निपुराण' में कहा गया है–

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्कार रसाह्वया।।[2]

अर्थात् वह परमब्रह्म परमेश्वर अक्षय है। वह शाश्वत, अजन्मा और समस्त सृष्टि में परिव्याप्त है। वेदान्त ग्रन्थों में उसे अद्वितीय ज्योतिर्मान् और सामर्थ्यवान् कहा गया है। उसका आनन्द स्वाभाविक है पर उसकी अभिव्यक्ति कभी–कभी होती है। उसकी अभिव्यक्ति का नाम चैतन्य, चमत्कार अथवा रस है। यहाँ 'अग्निपुराण' के अनुसार ब्रह्म की अभिव्यक्ति का नाम रस है। ब्रह्म ही रस रूप में अभिव्यक्त होता है। उसकी अभिव्यक्ति कभी–कभी हुआ करती है। कहने का भाव यह है कि अनुकूल आलम्बन और उद्दिपन से वह रस कभी–कभी अभिव्यक्त होता है और वह ब्रह्ममय है ऐसा अग्निपुराण का मानना है। 'अग्निपुराण' में काव्य के रूप में रस की अनिवार्यता बतलायी गयी है। वहाँ कहा गया है–

लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा।
अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।।
यथा वै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।[3]

अर्थात् जिस प्रकार बिना दान की लक्ष्मी शोभित नहीं होती, उसी प्रकार कविता (वाग्देवी) भी रसों के बिना शोभित नही होती है। कवि इस अपार काव्य जगत् का निर्माता है। उसे जो वस्तु जिस प्रकार अच्छी लगती

है वह उसे वैसे ही बनाता है।

अग्निपुराण के इस विषय के सम्बन्ध में डॉ. पारसनाथ द्विवेदी अपने 'नाट्यशास्त्र के इतिहास' नामक पुस्तक में लिखते हैं–अग्निपुराण में रस के विषय में स्वतन्त्र मौलिक विचार धारा प्रतिपादित है। अग्निपुराण ने दार्शनिक धरातल पर रस का चिन्तन कर एक नई दिशा प्रस्तुत की है जो परवर्ती रस–विवेचन का आधार है।[4]

यहाँ रस को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है क्योंकि अग्निपुराण में अलंकार शोभावर्धक ही माना गया है–

काव्यशोभाकरान्धर्मान्लंकारान्प्रचक्षते।[5]

अर्थात् काव्य की शोभा बढाने वाले धर्मों को अलंकार कहा जाता है। इससे विदित होता है कि अग्निपुराणकार अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व नही केवल उत्कर्ष का हेतु मानता है लेकिन वे रस को अनिवार्य तत्त्व मानते हैं। रस एवं भाव की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य भरत लिखते हैं–

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्।।
व्यञ्जनौषधिसंयोगो यथाऽन्नं स्वादुतां नयेत्।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम्।।[6]

अर्थात् रस सर्वथा भावहीन नही हो सकता, कोई भी रस ऐसा सम्भव नही है जो भावों के द्वारा किसी न किसी भाव की परिणति न हो। भाव भी रस के बिना सम्भव नही है। अपितु रस और भाव ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इन दोनों का परस्पर जन्यजनक अभिनय में निहित है। जिस प्रकार विविध व्यञ्जन और औषधियों के संयोग से अन्न स्वादिष्ट हो जाता है। उसी प्रकार भाव और रस परस्पर एक दूसरे को उपकृत करते हैं। भाव रसों को निष्पन्न करते हैं तो रस भावों को भावत्त्व प्रदान करते हैं। इसके स्वरूप के विषय में आचार्य धनञ्जय अपने दशरूपक में लिखते हैं–

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्त्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः।।[7]

अर्थात् विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारीभावों के द्वारा आवस्वादन के योग्य किया गया स्थायीभाव ही रस कहलाता है। इसी

तथ्य का प्रतिपादन 'आचार्यमम्मट' इस रूप में करते हैं–

कारणान्यथ कार्य्राणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।।[8]

अर्थात् लोक में रति आदिरूप स्थायीभाव के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं वे यदि नाटक या काव्य में प्रयुक्त होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव कहलाते हैं और उन विभाव आदि से व्यक्त वह स्थायीभाव रस कहलाता है। रस के विषय में 'आचार्यविश्वनाथ' भी अपना मत प्रकट करते हुए लिखते हैं–

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्।।[9]

अर्थात् सहृदय–हृदय में रत्यादि स्थायीभाव जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के द्वारा अभिव्यक्त हो उठते हैं तब आस्वाद अथवा आनन्द स्वरूप हो जाते हैं जिसे रस कहा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्यधनञ्जय, आचार्यमम्मट और आचार्यविश्वनाथ ये सभी आचार्य रस की परिभाषा आचार्यभरत मुनि के रस सूत्र–विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रस निष्पत्तिः[10] की एक सुन्दर विवृत्ति है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त आचार्यों के रस स्वरूप से 'अग्निपुराण' का रसस्वरूप भिन्न है। यहाँ रस की व्याख्या चैतन्य रूप में की गयी है। कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार सांख्य के अनुसार समस्त अनुभूतियों का आश्रय अन्तःकरण का मूल अहंकार है और वेदान्त की दृष्टि में जब शुद्ध चैतन्य 'अहमस्मि' के धरातल पर अवतरित होता है तब अहम् तत्त्व की तृप्ति होती है। इसी प्रकार यह मनुष्य में अपने प्रति अनुराग प्रकाशित करता है। इस अहंभाव से उसे स्वअस्तित्त्व का भान होने लगता है। यह उसका भाव उसी प्रकार का है जैसे किसी कामिनी द्वारा प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखे जाने पर पुरुष में आत्मज्ञान, आत्मविश्वास या आत्मानुराग की भावना जाग्रत होकर उसे सहज आनन्द से विभोर कर देती है, यही अहंकार है। यह अहंकार ही रस है और अभिमान अहंकार का एक रूप है। यह अभिमान इसलिए कहा जाता है कि क्योंकि इसमें सम्पूर्ण सुख–दुःख की अनुभूतियाँ आनन्ददायक होने के कारण अभिमत हो जाती है। यहाँ पर

अभिमान उत्तेजना जन्य मिथ्या गर्व नहीं है, वह तो आत्मा का विशेषगुण है, जो रस्यमान होने के कारण रस है। 'अग्निपुराण' में रस–भेद के विषय में भी विवेचन किया गया है। यहाँ कहा गया है–

शृङ्गरहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो रसाः।।[11]

अर्थात् शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त ये नौ रस है। इनमें रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स ये चार रस स्वाधीन है। शेष परजन्य हैं। 'अग्निपुराण' में शृङ्गार रस का व्यापक अर्थ लिया गया है। उसे ही रस का पर्याय माना गया है उसके सम्बन्ध में कहा गया है–

अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी।
व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते।।[12]

अर्थात् अभिमान से रति का जन्म होता है और जब रति, व्यभिचारी आदि भावों से परिपुष्ट होती है तब उसे शृङ्गार रस कहते हैं। कहने का भाव यह है कि लोक में देवता और मनुष्य के अभिमान (अहंकार) से जो रति उत्पन्न होती है वह रजोगुण से उत्पन्न अनुराग से परिपुष्ट होकर शृङ्गार रस कहलाता है। इस अहंकार रूप शृंगार से काम (शृंगार) हास्य आदि अनेक रस उत्पन्न होते हैं–

तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।
स्वस्वस्थायिविशेषोऽथ परिघोषस्वलक्षणाः।।
सत्त्वादिगुण संतानाज्जायन्ते परमात्मनः।
रागाद्भवति शृङ्गारों रौद्रस्तैक्ष्ण्यात्प्रजायते।।
वीरोऽवष्टम्भजः संकोचभूर्वीभत्स इष्यते।[13]

अर्थात् रति अथवा शृङ्गार के अनेक भेद हैं काम (शृङ्गार) हास्यादि। प्रत्येक रस का अपना–अपना स्थायी भाव होता है। उसका स्वरूप स्वनाम से ही स्पष्ट है। ये स्थायीभाव परब्रह्म के सत्त्वादि गुणों के प्रसार से ही समुत्पन्न होते हैं। राग (प्रणय) से शृङ्गार रस की उत्पत्ति होती है। असहिष्णुता से रौद्ररस की, उत्साह से वीररस की, संकोच अथवा ग्लानि से वीभत्सरस की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार शृङ्गार रस के रजोगुण के उद्रेक से जब मन विकसित होता है तो हास्य रस उत्पन्न होता है। रौद्ररस से करुणरस, वीर से अद्भुतरस और वीभत्स से भयानकरस की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार 'अग्निपुराण' के ये चार ही प्रमुख रस हैं और ये शृङ्गाररस के परिणाम

हैं। अतः इसका रस विवेच्य सर्वथा विलक्षण है किसी भी अन्य आचार्य के द्वारा इस प्रकार का रस विवेचन नही किया गया है। 'अग्निपुराण' के अनुसार ये आठ रस सिद्ध हैं–शृङ्गार, हास्य, रौद्र, करुण वीर, भयानक, वीभत्स और अद्‌भुत। इसके अतिरिक्त यहां शान्त रस को भी स्वीकार कियां गया है। 'अग्निपुराण' के अभिनय निरूपण अध्याय में रसभेदों का उल्लेख करते हुए रस के महत्त्व का इस रूप से प्रतिपादन किया गया है–

रसादिविनोयोगोऽथ कथ्यते ह्यतिमानतः।
तमन्तरेण सर्वेषामपार्थैव स्वतन्त्रता।।[14]

अर्थात् अब विस्तार पूर्वक रस आदि का प्रकरण निर्दिष्ट किया जाता है। इसके बिना सब कवियों एवं सहृदयों की सार्थकता व्यर्थ है। यहाँ पर काव्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में रस को माना गया है। पुराणकार निश्चित रूप से रस को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किये हैं–

1. शृङ्गाररस

'अग्निपुराण' में शृङ्गार रस के दो भेदों को स्वीकार करते हुए लिखा गया है–

सम्भोगो विप्रलम्भश्च शृङ्गारो द्विविधः स्मृतः।
प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च तावति द्विविधौ पुनः।।
विप्रलम्भाभिधानो यः शृङ्गारः स चतुर्विधः।
पूर्वानुरागमानाख्यः प्रवासकरुणात्मकः।
एतेभ्योऽन्यतरं जायमानं संभोगलक्षणम्।
विवर्तते चतुर्धैव न च प्रागतिवर्तते।।
स्त्रीपुंसयोस्तद्वदयं तस्य निर्वर्तिका रतिः।
निखिलाः सात्त्विकास्तत वैवर्ण्यप्रलयौ विना।।
धर्मार्थकाममोक्षैश्च शृङ्गार उपचीयते।
आलम्बनविशेषैश्च तद्विशेषैर्निरन्तरः।।
शृङ्गारं द्विविधं विद्याद्वाङ्नेपथ्यक्रियात्मकम्।[15]

अर्थात् संभोग और विप्रलम्भ ये शृंगार के दो भेद हैं। पुनः इसके दो भेद होते हैं प्रच्छन्न और प्रकाश। विप्रलम्भ शृङ्गार के चार भेद होते हैं–पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। इन चारों से भिन्न उत्पन्न होने वाला संभोगशृङ्गार है, यह

इन चारों में विद्यमान रहता है। परन्तु इनका अतिक्रमण नही करता है। इसका सम्बन्ध स्त्री–पुरुष से होता है। शृंङ्गारस का निर्वाह रति स्थायीभाव के द्वारा होता है। इस रस में समस्त सात्त्विकों का समावेश रहता है और वैवर्ण्य तथा प्रलय का अभाव रहता है। धर्म, अर्थ काम, मोक्ष तथा आलम्बनादि द्वारा शृंगार रस निरन्तर बढ़ता है। शृंगार के मुख्य रूप से दो भेद हाते हैं–साहित्यिकरूप काव्यादि में और अभिनेयादि नाटकादि में।

2. हास्यरस

हास्यरस को व्याख्यायित करते हुए 'अग्निपुराण' में इस प्रकार कहा गया है–

हासश्चतुर्विधोऽलक्ष्यदन्तः स्मित इतीरितः।।
किंचिल्लक्षितदन्ताग्रं हसितं फुल्ललोचनम्।
विहसितं सस्वनं स्याज्जिह्योपहसितं तु तत्।।
सशब्दं पापहसितमशब्दमतिहासितम्।[16]

अर्थात् हासरस चार प्रकार होता है–अलक्ष्यदन्त अर्थात् जिसमें दाँत दिखायी न दे, ऐसा हास्य स्मित कहलाता है। जिस हास्य में दाँतों का अग्रभाग अल्प–अल्प दिखायी दे और नेत्रों में भी उल्लास हो उसे हसित कहते हैं। जिस हास्य में मधुर–मधुर शब्द भी हो उसे विहसित और जहाँ मुख भी खुल जाय और शब्द भी हो उसे अपहसित कहते हैं। इस अपहसित हास्य में पाप हँसी रहती है। यानि इसमें हास्य का विकृत रूप रहता है।

3. करुणरस

करुण रसों में प्रमुख है। इसके सन्दर्भ में 'अग्निपुराण' में उल्लखित है–

यश्चासौ करुणो नाम स रसस्त्रिविधो भवेत्।
धर्मोपघातजश्चित्तविलासजनितस्तथा।
शोकः शोकाद्‌भवेत्स्थायी कः स्थायीपूर्वजो मतः।।[17]

अर्थात् करुण रस के तीन भेद है–धर्महानि द्वारा उद्‌भुत शोक, चित्रग्लानिजन्य शोक तथा वियोग से उत्पन्न शोक। इनका स्थायी भाव पूर्वज अर्थात् प्रथम का धर्म, द्वितीय का विलास तथा तृतीय का शोक स्थायी भाव है।

4. रौद्ररस

रौद्ररस का प्रतिपादन निम्न रूप में 'अग्निपुराण' में प्राप्त होता है–

अङ्गनेपथ्यवाक्यैश्च रौद्रोऽपि त्रिविधो रसः।
तस्य निर्वर्तकः क्रोधः स्वेदो रोमञ्चञ्वेपथुः।।[18]

अर्थात् रौद्ररस के तीन भेद हैं–अङ्गरौद्र, नेपथ्यरौद्र तथा वाक्यरौद्र इसका निर्वर्तक स्थायीभाव क्रोध है तथा स्वेद, रोमांच, कम्प इसके संचारी भाव हैं।

5. वीररस

वीररस के तीन भेदों का प्रतिपादन करते हुए 'अग्निपुराण' में कहा गया है–

दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीर इति त्रयम्।
वीरस्तस्य च निष्पत्तिर्हेतुरूत्साह इष्यते।।
आरम्भेषु भवेद्यत्र वीरमेवानुवर्तते।।[19]

अर्थात् वीररस के तीन भेद होते हैं–दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर। इस रस की अभिव्यक्ति उत्साह द्वारा होती है।

6. भयानकरस

रसों के रूप में भयानकरस के विषय में 'अग्निपुराण' में कहा गया है–

भयानको नाम रसस्तस्य निर्वर्तकं भयम्।[20]

अर्थात् भयानक रस का स्थायी भाव भय हैं यह वीर रस की पूर्वावस्था है। कहने के भाव यह है कि भय के उपरान्त ही वीर रस की स्थिति सम्भव हो पाती है।

7. वीभत्सरस

वीभत्सरस को परिभाषित करते हुए 'अग्निपुराण' में कहा गया है–

उद्वेजनः क्षोमन (ण) श्च वीभत्सो द्विविधः स्मृतः।
उद्वेजनः स्यात्प्लुत्याद्यैः क्षोभनो (णो) रूधिरादिभिः।।
जुगुप्साऽऽरम्भिका तस्य सात्त्विकांशो निवर्तते।।[21]

अर्थात् वीभत्सरस दो प्रकार का होता है–उद्वेजन और शोभन। उद्वेजन का प्रदर्शन उछल–कूद द्वारा तथा क्षोमन का प्रदर्शन रुधिरपातादि के द्वारा

किया जाता है। इसका स्थायीभाव जुगुप्सा हैं तथा इसमें सात्त्विक अंश नहीं रह पाता है।

8. अद्भुतरस

'अग्निपुराण' में चमत्कारातिशय को ही अद्भुतरस माना गया है। उपर्युक्त सभी रसों का वाकक्रियात्मक और नेपथ्य क्रियात्मक दो भेद अभिनय की दृष्टि से किये जाते हैं।

9. शान्तरस

शान्तरस को नाट्य रस के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता है किन्तु नाटक के सन्दर्भ में इसका नाम निर्दिष्ट होने के कारण इसे भी रस रूप में स्वीकार किया गया है। जब विवेक, वैराग्य आदि के कारण कर्म में प्रवृत्ति नही होती है तब शान्त रस होता है। शान्तरस का स्थायी भाव शम है।

रस के सम्बन्ध में यहाँ एक तथ्य का विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए कि मूल रस के रूप में शृङ्गार रस को ही माना गया है। आचार्य भोजराज अपने 'शृङ्गारप्रकाश' में शृंगार रस को प्रकृतिरस मानने के पक्षपाती हैं। चौदहवीं शती के नारायण पण्डित अश्चर्यरस को आदि रस मानते हैं। कश्मीरी आचार्यों की सम्मति में शान्तरस ही आदि रस है। अभिनवगुप्त उस मत के प्रतिनिधि आलोचक हैं। इस मत का युक्तिवाद यह है कि रस आनन्द रूप होता है। शृंगारादि रसों में यह आनन्द रत्यादि के द्वारा व्यवच्छिन्न होता है अर्थात् रति उसके आनन्द के रूप को अपनी प्रभुता से एक प्रकार व्यावृत कर लेती हैं, जिससे आनन्द की विशुद्धि जाती रहती है और वह अपने मूल रूप से हटकर विकृत दशा को प्राप्त कर लेता है। प्रकृत दशा में रस विशुद्ध आनन्द स्वरूप रहता है और यह दशा शान्तरस में ही प्राप्त हो सकती है। जैसा कि शान्तरस का स्थायी भाव शम है। जब चित्त सांसारिक माया–प्रपञ्चों से हटकर विशुद्ध तत्त्व में प्रतिष्ठित हो जाता है तब ही शान्ति का उदय होता है। इस अवस्था में चित्त को विकृत करने के लिए न किसी सजातीय विकृति का और न किसी विजातीय विकृति का जन्म होता है। अतः चित्त अपने विशुद्ध सात्त्विक रूप में सदैव स्थिर रहता है। जिससे शान्तरस का उदय होता है। वाह्य वस्तु के आने पर यह चित्त

उसके आकार को ग्रहण करता है तव उसमें तदाकार वृत्ति का जन्म होता है और चित्त अपने स्वाभाविक साम्यावस्था से हटकर वैषम्यावस्था को प्राप्त कर लेता है। इसी अवस्था में शृंगारादि अन्य रसों की उत्पत्ति होती है। फलतः शान्तरस को ही काश्मीरी आचार्यों द्वारा मूल रस माना गया है। इसी प्रकार महाकवि भवभूति करुणरस को ही मूलरस मानते हैं। वे अपने उस मत के प्रतिपादन के लिए 'उत्तररामचरित' नाटक में कहते हैं–

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव तु तत् समस्तम्।।[22]

अर्थात् मुख्य रस एक ही है और वह करुण ही है वह निमित्त की भिन्नता से कारणों के भेद से भिन्न–भिन्न विकृति को प्राप्त होता है। करुण ही स्थायी भावों की भिन्नता के कारण शृंगारादि रसों के रूप में अवतीर्ण होता है। वे कहते हैं हवा के झोकों के अन्तर के कारण वही जल कभी आवर्त बन जाता है और कभी बुद् बुद् बन जाता है और वही कभी उत्ताल तरगों का रूप धारण कर लेता हैं, वह सब जल ही रहता है। किन्तु निमित्त भेद के कारण विभिन्न आकारों का धारण करता है। करुण रस का शोक स्थायीभाव है। इसलिए किसी प्रियजन की मृत्यु से जो शोक उत्पन्न होता है। वही इसका स्थायीभाव माना जाता है, मृत्यु से आनन्द की उत्पत्ति व्यावहारिक दृष्टि से अनुचित तथा विरुद्ध है लेकिन काव्य या नाटक में प्रदर्शित होते ही शोक अलौकिक वस्तु की विभावना करने लगता है और तब उससे आनन्द की प्राप्ति होती है। दुःख का उदय नही होता है। जैसा कि आचार्य रूपगोस्वामी कहते हैं–

अलौकिक–विभावत्त्वं नीतेभ्यो रतिलीलया।
सदुक्त्या च सुखं तेभ्यः स्यात् सुव्यक्तमिति स्थिति।।[23]

इसी विषय का प्रतिपादन आचार्यमम्मट भी अपने काव्यप्रकाश के मंगलाचरण में करते हैं उनका कहना हैं काव्य जगत् सदैव आनन्दमय ही हुआ करता है–

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।।[24]

अर्थात् कहने का भाव यह है कि काव्य की प्रथम विशेषता यह है कि

ब्रह्मा की सृष्टि नियमों के अधीन रहती है लेकिन कवि के लिए नियमों का बन्धन नहीं है। कवि की सृष्टि में स्त्री मुख में कमल की सुगन्ध, उसकी आंखों में कमल का सौन्दर्य और उसके शरीर में कमल की कोमलता रहती है। कवि की सृष्टि में चन्द्रमा की शीतल चाँदनी और मेघों की मधुर ध्वनि से वियोगिनियों के लिए आग की लपटें निकलती दिखलायी पड़ती है। काव्य की द्वितीय विशेषता यह है कि पितामह ब्रह्मा की सृष्टि में सुख–दुःख दोनों का अस्तित्त्व है। संसार के सभी प्राणी विविध दुःखों से पीड़ित हैं लेकिन कवि की सृष्टि में दुःख का अस्तित्त्व नहीं है। उसकी सृष्टि में तो आनन्द ही आनन्द है। लोक में शोक दुःखदायी होता है लेकिन काव्य में वही आनन्द का उत्पादक माना जाता है। कवि की सृष्टि की तीसरी विशेषता अनन्य परतन्त्राम है। ब्रह्मा की सृष्टि प्रकृति अथवा समवायी इत्यादि कारणों के बिना सम्भव नहीं है लेकिन कवि को प्रतिभा के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती है। ब्रह्मा की सृष्टि में छः रस है जबकि कवि सृष्टि में नव रस हैं और सभी रुचिर भी रहा करता है। इस प्रकार कवि भारती सर्वोत्कृष्टशाली रूप को धारण की हुई हैं। यह लोक के विषय को ही लोकोत्तर रूप में प्रस्तुत करती है।

भाव

भाव शब्द का सामान्य अर्थ चित्तवृत्ति, सहसगुण, प्रकृति, स्वभाव इत्यादि माना जाता है। इसके सम्बन्ध में आचार्य धनञ्जय लिखते हैं–

सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्।[25]

अर्थात् सुख–दुःख आदि भावों के द्वारा सहृदय के चित्त को भावित कर देना भाव कहलाता है। आचार्यभरत भी कहते हैं कि रसों को भावित करने के कारण ये भाव कहलाते हैं।[26] भाव के विषय में आचार्यविश्वनाथ भी लिखते हैं–

नानाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसान् यतः।
तस्माद्भावा अमी प्रोक्ताः स्थायिसंचारिसात्त्विकाः।।[27]

अर्थात् स्थायी, व्यभिचारी और सात्त्विक चित्तवृत्तियों आदि को भाव कहा जाता है वह इसलिये क्योंकि ये ही वे तत्त्व हैं जिससे उन अभिनयों से सम्बद्ध रसों की भावना हुआ करती है। भाव और रस को स्पष्ट करते हुए 'अग्निपुराण' में कहा गया है–

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति।।[28]

अर्थात् न तो रस के बिना कोई भाव होता है और नही भाव के बिना रस। इन भावों से रसों का भावन किया जाता है और रसों के द्वारा भावों का। 'अग्निपुराण' के इस कथन से ज्ञात होता है कि दोनों एक दूसरे के बिना अधुरे हैं। एक के होने पर ही दूसरे का बोध सम्भव है। इसके महत्त्व को 'अग्निपुराण' में इस रूप में भी बतलाया गया है–

कविभिर्योजनीया वै भावाः काव्यादिके रसाः।
विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते।।[29]

अर्थात् कवियों को चाहिए कि वे काव्यादि में भावों को सम्बन्धी रसों के साथ संयोजित करे। रत्यादि भावों के कारण रस उत्कर्ष पर पहुंचकर अनुभूति का विषय बनता है। अतः रस और भाव को अलग नहीं किया जा सकता है।

स्थायीभाव

दशरूपक में स्थायीभाव को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः।।[30]

अर्थात् जो रति आदि भाव अपने से प्रतिकूल अथवा अनुकूल किसी प्रकार के भावों के द्वारा विच्छिन्न नही होता और लवणाकार (नमक की खान या समुद्र) के समान अन्य सभी भावों को आत्मसात् कर लेता है, वह स्थायी भाव कहलाता है। 'अग्निपुराण' में आठ स्थायी भावों का उल्लेख करते हुए कहा गया है–

स्थायिनोऽष्टौ रतिमुखा।[31]

अर्थात् रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय ये आठ स्थायी भाव कहे जाते हैं। इनको क्रमशः 'अग्निपुराण' में परिभाषित भी किया गया है यथा–

रति

स्तम्भादि (आठ) व्यभिचारीभाव सुख के मनोनुकूल अनुभव का नाम रति है–

स्तम्भाद्याव्यभिचारिणः। मनोनुकूलेऽनुभवः सूखस्य रतिरिष्यते।।[32]

हास

हर्षादि से मन का जो विकास होता है, उसे हास कहते हैं–

हर्षादिमिश्च मनसो विकासो हास उच्यते।[33]

शोक

प्रिय वस्तु के विनाशदि से मन में होने वाली विकलता को शोक कहा जाता है–

मनोवैक्लैव्यमिच्छन्ति शोकमिष्टक्षयादिभिः।[34]

क्रोध

किसी प्रतिकूल परिस्थिति में समुत्पन्न तीक्ष्णता का नाम क्रोध है–

क्रोधस्तैक्ष्ण्यं प्रबोधश्च प्रतिकुलानुकारिणी।[35]

उत्साह

हृदय में उत्पन्न पौरुष को उत्साह स्थायीभाव कहते हैं–

पुरुषानुसमोऽप्यर्थो यः स उत्साह उच्यते।[36]

भय

किसी चित्र अथवा भयंकर दृश्य को देखने से चित्त को जो व्याकुलता होती है, उसे भय कहा जाता है–

चित्रादिदर्शनाच्चेतोवैक्लव्यं ब्रुवते भयम्।[37]

जुगुप्सा

गन्दी वस्तुओं के निन्दात्मक भाव का नाम जुगुप्सा है–

जुगुप्सा च पदार्थानां निन्दा दौर्भाग्यवाहिनाम्।[38]

विस्मय

जहाँ अतिशय दर्शन से चित्त विस्मृति को प्राप्त हो जाये वहाँ विस्मय नामक स्थायीभाव होता है–

विस्मयोऽतिशयेनार्थ दर्शनाच्चित्तविस्मृतिः।[39]

शान्तरस के नाम का उल्लेख तो 'अग्निपुराण' में किया गया है लेकिन स्थायी भाव के रूप शम का उल्लेख नही मिलता है। इसके विषय में विद्वानों में मतभेद है। उनमें से कुछ कहते हैं कि शान्तरस नहीं होता है क्योंकि आचार्यभरत ने न तो उसके विभाव आदि का वर्णन किया और न ही उसका लक्षण किया है। अन्य कहते हैं कि वस्तुतः शान्तरस हो ही नही सकता क्योंकि शम भाव की पुष्टि ही शान्त रस है और शम भाव का आविर्भाव राग--द्वेष के नाश पर होता है। अनादि काल से प्रवाहित होता हुआ राग--द्वेष का नाश सम्भव नही है। इस प्रकार उनके मत में शान्त रस अस्वीकार कर दिया जाता है। 'अग्निपुराण' में शान्तरस स्वीकार किया गया है लेकिन नाटक के रूप में इसे ग्रहण नही किया गया है। 'अग्निपुराण' केवल अभिनयात्मक नाटक आदि में शम के स्थायी होने का निषेध करता हैं क्योकि इस शम अवस्था में समस्त क्रियाओं का अभाव हो जाता है। इसलिए उसका अभिनय करना सम्भव नहीं है।

सात्त्विकभाव

'अग्निपुराण' में सात्त्विक भावों का भी उल्लेख किया गया है। वहाँ कहा गया है--

अष्टौ स्तम्भादयः सत्त्वाद्रजसस्तमसः परम्।[40]

अर्थात् आठ स्तम्भभाव त्रिगुणातीत होते हैं।आचार्य धनञ्जय सात्त्विकभाव के सम्बन्ध में कहते हैं--

पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः।
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्।।[41]

अर्थात् अन्य जो सात्त्विक भाव हैं यद्यपि ये अनुभाव ही हैं तथापि पृथक् रूप से भाव कहलाते हैं क्योंकि उनकी सत्त्व से ही उत्पत्ति होती है। सत्त्व का अर्थ है किसी भाव से भावित होना। आचार्यविश्वनाथ सात्त्विक भाव को परिभाषित करते हुए लिखते हैं--

विकाराः सत्त्वसंभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः।[42]

अर्थात् सत्त्व के उद्रेक से उत्पन्न जो मनोविकार है उन्हीं को सात्त्विक भाव कहा जाता है। अग्निपुराण में इसके आठ भेद बतलाये गये हैं--स्तम्भ, स्वेद, पुलक, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। क्रमशः 'अग्निपुराण'

में इस प्रकार इन्हें परिभाषित भी किया गया है–

स्तम्भ

भय या रति की अधिकता के कारण निश्चेष्ट होने वाले भाव का नाम स्तम्भ है–

स्तम्भश्चेष्टा प्रतीघातो भयरागाद्युपाहितः।[43]

स्वेद

श्रम, प्रणय, भय के आधिक्य के कारण अन्तर्मन्थन द्वारा शरीर पर आने वाली आर्द्रता को स्वेद कहते हैं–

श्रमरागाद्युपेतान्तः क्षोभजन्म वपुर्जलम् स्वेदो।[44]

पुलक

भय आदि के कारण होने वाले शारीरिक उच्छ्‌वास को पुलक कहा जाता है–

हर्षादिभिर्देहोच्छ्‌वासोऽन्तः पुलकोद्‌गमः।[45]

स्वरभेद

हर्ष, भय आदि के कारण होने वाले कण्ठावरोध को स्वर भेद कहते हैं–

हर्षादिजन्मवान्सङ्गः स्वरभेदो भयादिभिः।[46]

वेपथु

हृदय के विक्षोभस्वरूप होने वाले स्तम्भ को वेपथु भाव कहा गया है–

चित्तक्षोभभवस्तम्भो वेपथुः परिकीर्तितः।[47]

वैवर्ण्य

वैवर्ण्य के सम्बन्ध में 'अग्निपुराण' में कहा गया है कि विषादादि भयादि के कारण होने वाली रूप या कवि की क्लानता को वैवर्ण्य कहा जाता है–

वैवर्ण्य च विषादादिजन्मा कान्तिविपर्ययः।[48]

अश्रु

दुःख, आनन्दादि से नेत्रों में उत्पन्न या दृश्यमान जल को अश्रु कहा जाता है–

दुःखानन्दादिजं नेत्रजलमश्रु च विश्रुतम्।[49]

प्रलय

अशनादि के कारण इन्द्रियों की विकलता प्रलय कहलाता है–

इन्द्रियाणामस्तमयः प्रलयो लङ्घनादिभिः।[50]

व्यभिचारीभाव

उद्बुद्ध हुए स्थायिभावों की पुष्टि तथा उपचयों में जो उनके सहकारी होते हैं उन्हें व्यभिचारीभाव कहते हैं। दशरूपक में इसके सम्बन्ध में कहा गया है–

विशेषदाभिमुख्येन चरन्ती व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।।[51]

अर्थात् विविध प्रकार से स्थायीभाव के अभिमुख अनुकूल चलने वाले भाव व्यभिचारी भाव कहलाते हैं, जो स्थायी भाव में इसी प्रकार प्रकट होकर विलीन होते रहते हैं जिस प्रकार सागर में तरङ्गे। कहने का भाव यह है कि जैसे सागर की तरंगें उत्पन्न होती हैं और विलीन हो जाती हैं वैसे ही रति आदि स्थायीभाव के होने पर ही उसको लक्ष्य करके जिनका आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है वे निर्वेद आदि व्यभिचारीभाव कहलाता है। 'आचार्यविश्वनाथ' इसके सम्बन्ध में कहते हैं–

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च दद्मिदाः।।[52]

अर्थात् वे भाव व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं जो विभाव और अनुभाव की अपेक्षा विशेष उत्कटता किं वा अनुकूलता से वासना रूप से सामाजिक के हृदय में सदा विराजमान रत्यादि स्थायीभावों को रसास्वाद में परिणत किया करते हैं तथा जिन्हें स्थायीभावों के समुद्र में बुद बुद (बुले–बुले) की भांति उतराते हैं और डूबते हुए देखा जाता है तात्पर्य यह है कि रत्यादि अथवा निर्देदादि चित्तवृत्तियां हैं। चित्तवृत्तियाँ को ही भाव कहा जाता है चित्तवृत्तियों को भाव इसलिए कहा जाता है क्योंकि कवि प्रतिभा या

नाट्यकला की वर्णना और अंकन शक्ति इन्हें आस्वाद्य बना दिया करती हैं। लोक जीवन में ये चित्तवृत्तियां रस अथवा आस्वादरूप में अनुभव का विषय नही यह तो लोक जीवन की महिमा है जिसके कारण ये रस रूप में प्रतीत हुआ करती हैं। इन चित्तवृत्तियों को इस दृष्टि से भी भाव कहा करते हैं क्योकि काव्य या नाट्य के क्षेत्र में सामाजिकों का हृदय इनसे व्याप्त हो जाया करता है। अब इन चित्तवृत्तियों में स्थिर और अस्थिर रूप की द्विविध चित्तवृत्तियाँ हैं। स्थिर चित्तवृत्तियाँ जैसे कि रति आदि ऐसी हैं जो प्राणिमात्र के हृदय में जन्म से ही संस्कार रूप से विराजमान रहा करती हैं। ये ही काव्य या नाट्य में वस्तुतः कला के क्षेत्र में स्थायीभाव कहे जाते हैं। व्यभिचारीभाव उन अस्थिर चित्तवृत्तियों का कला–जगत् में प्रसिद्ध नाम हैं जो कि स्थायी चित्तवृत्ति सूत्र में पिरोयी प्रतीत हुआ करती हैं। कभी ये चित्तवृत्तियाँ उदित होती हैं कभी अस्त होती हैं। अनन्त वैचित्र्य के साथ इनमें आविर्भाव–तिरोभाव की आखमिचौनी चला करती है। इसके कारण स्थायी चित्तवृत्तियों चित्र–विचित्र रूप में प्रतीत हुआ करती हैं। स्थायी चित्तवृत्तियाँ में डूबना–उतरना इनकी विशेषता है। अतः इन्हें व्यभिचारीभाव कहते हैं। 'अग्निपुराण' में व्यभिचारीभावों का निम्नरूप से निरूपण किया गया है–

निर्वेद

वैराग्य या दुःख के कारण मन में उत्पन्न खेद को निर्वेद कहते हैं–

वैराग्यादेर्मनः खेदो निर्वेद इति कथ्यते।[53]

ग्लानि

मानसिक पीड़ादि से प्रसूत अवसाद जब अभिव्यक्त होता है तो उसे ग्लानि कहते हैं–

मनः पीडादिजन्मा च सादो ग्लानिः शरीरगा।[54]

आशंका

अनिष्ट आगमन की कल्पना को आशंका कहते हैं–

शङ्काऽनिष्टागमोत्प्रेक्षा।[55]

असूया

मात्सर्य को ही असूया कहते हैं–

स्यादसूया च मत्सरः।[56]

मद

मदिरादि के सेवन से जो मानसिक शिथिलता होती है उसे मद कहते हैं–

मदिराद्युपयोगोत्थं मनः संमोहनं मदः।[57]

श्रम

कार्याधिक्य के फलस्वरूप उद्‌भूत शारीरिक क्लान्ति को श्रम कहते हैं–

क्रियातिशयजन्माऽन्तः शरीरोत्थक्लमः श्रमः।[58]

आलस्य

शृङ्गारादि क्रियाओं से चित्त की उदासी आलस्य कही जाती है–

शृङ्गारादि क्रियाद्वेषश्चित्तस्याऽऽलस्यमुच्यते।[59]

दैन्य

स्वापमान का चिन्तन करते हुए सत्त्व से अवभ्रंश होने का नाम दैन्य है–

दैन्यं सत्त्वादपभ्रंशश्चिन्तार्थपरिभावनम्।[60]

मोह

करणीय उपाय के न सूझने की अवस्था को मोह कहते हैं–

इतिकर्तव्यतोपायादर्शनं मोह उच्यते।[61]

स्मृति

किसी पूर्वानुभूत वस्तु के प्रत्यभिज्ञान को स्मृति कहते हैं–

स्मृतिः स्यादनुभूतस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।[62]

मति

तत्त्वज्ञान की सहायता से अर्थ धारण का नाम मति हैं–

मतिरर्थपरिच्छेदस्तत्त्वज्ञानोपनायितः।[63]

व्रीडा

अनुरागादि के कारण चित्त में होने वाले संकोच को व्रीडा कहते हैं–

व्रीडानुरागादिभवः संकोचः कोऽपि चेतसः।[64]

हर्ष

चित्त की अस्थिरता ही चपलता होती है और चित्त की प्रसन्नता को हर्ष कहते हैं–

भवेच्चपलतास्थैर्यं हर्षचित्तप्रसन्नता।[65]

आवेश

प्रतिकार की भावना से व्यक्ति में आने वाले उद्वेग को आवेश कहा जाता है–

आवेशश्च प्रतीकाराशया वैधुर्यमात्मनः।[66]

जड़ता

कर्त्तव्य में प्रतिभा के कुष्ठित होने को जड़ता कहा गया है–

कर्त्तव्ये प्रतिमाभ्रंशो जडतेत्यभिधीयते।[67]

धृति

लक्ष्यप्राप्ति से प्राप्त आत्मसंशय की भावना को धृति कहते हैं–

इष्टप्राप्तेरुपचितः संपदाभ्युदयो धृतिः।[68]

गर्व

आत्मोत्कर्ष की भावना से दूसरों के तिरस्कार करने या अनादर करने को गर्व कहते हैं–

गर्वः परेष्ववज्ञानमात्मन्युत्कर्षभावना।[69]

विषाद

किसी दैवीकारण से प्रिय वस्तु के विनाश से जो आघात पहुँचता है उसे विषाद कहा जाता है–

भवेद्विषादो दैवादेर्विघातोऽभीष्टवस्तुनि।[70]

औत्सुक्य

ईप्सित वस्तु की प्राप्त्यर्थ जो मन की चंचल अवस्था होती है उसे औत्सुक्य कहते हैं–

औत्सुक्यमीप्सिताप्राप्तेर्वाञ्छया तरला स्थिति।[71]

अपस्मार

चित्त की जड़ता और इन्द्रियों की विक्षुब्धावस्था को अपस्मार कहते हैं–

चित्तेन्द्रियाणां स्तैमित्यमपस्मारोऽनवस्थितिः।[72]

वीप्सा

युद्ध में अथवा व्याघ्रादि से होने वाले भय में जो आश्चर्य होता है उसे वीप्सा कहते हैं–

युद्धेव्याघ्रादिभिस्त्रासो वीप्सा चित्रचमत्कृतिः।[73]

अमर्ष

क्रोध के शान्त न होने को अमर्ष कहा जाता है–

क्रोधस्याप्रशमोऽमर्षः।[74]

प्रबोध

चेतना के उदय का नाम प्रबोध है–

प्रबोधश्चेतनोदयः।[75]

अवहित्था

जब रहस्य इंगित और आकार के द्वारा स्पष्ट होता है तो उसे अवहित्था कहते हैं–

अवहित्थं भवेद्गुप्तिरिङ्गिताकारगोचरा।[76]

उग्रता

क्रोध से पुरुष असंगत शब्दावली के प्रयोग को उग्रता कहते हैं–

रोषतो गुरुवाग्दण्डपारुष्यं विदुरुग्रताम्।[77]

ऊहा

किसी प्रस्तुत समस्या के आधार पर तर्क–वितर्क की सम्भावना को ऊहा कहते हैं–

ऊहो वितर्कः स्याद्।[78]

व्याधि

मन और शरीर की जड़ता का नाम व्याधि है–

व्याधिर्मनोवपुरवग्रहः।[79]

उन्माद

कामादि दशा के कारण जो अन्तर्गत प्रलाप किया जाता है उसे उन्माद कहते हैं–

अनिवद्धप्रलापादिरुन्मादो मदनादिभिः।[80]

शम

तत्त्वज्ञानादि के कारण चित्त की संसार से उदासीनता को शम कहते हैं–

तत्त्वज्ञानादिना चेतःकषायोपरमः शमः।[81]

अग्निपुराण में इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्तीस व्याभिचारी भावों का उल्लेख किया गया है। जबकि 'नाट्यशास्त्र' में व्याधिचारी भावों की संख्या तैतीस मानी गयी है–

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथा सूया मदः श्रमः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धतिः।।
ब्रीडाचपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मारं एव च।।

सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च।।
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयंस्त्रिशदमो भावाः समाख्यातास्तु नामतः।।[82]

इसी प्रकार दशरूपक, साहित्यदर्पण एवं अन्य नाट्यशास्त्रीग्रन्थों में भी व्यभिचारी भावों की संख्या तैतीस ही बतलायी गयी है।

विभाव

विभाव को सामान्यतः रसानुभूति का कारण माना जाता है। नाट्य में विद्यमान अर्थ के विषय विभाव पर ही अवलम्बित माने जाते हैं। आचार्य धनञ्जय विभाव के सम्बन्ध में कहते हैं–

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्।[83]

अर्थात् रस उद्भावक तत्त्वों में विभाव उसे कहते हैं जो स्वयं जाना हुआ होकर स्थायीभाव को पुष्ट करता है। आचार्य विश्वनाथ अपने 'साहित्यदर्पण' में विभाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–

रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत्।
अतोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिध्यति।।
रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।[84]

अर्थात् रस की स्वप्रकाशत्मकता और अखण्डता इसलिए सिद्ध है क्योंकि यह विभावादि समूहालम्बनात्मक संवेदन से सर्वथा अभिन्न हुआ करती है। तात्पर्य यह है कि यदि विभावादि समूहालम्बनात्मक अनुभव को ज्ञान के अतिरिक्त कोई अन्य तत्त्व माना जाय तभी हो सकता है कि रस को स्वप्रकाश स्वरूप न कहा जाय। परन्तु यह सम्भव नहीं है, विभावादि समूहालम्बनात्मक अनुभव और प्रकाश शरीर ज्ञान तो एक अभिन्न वस्तु है। जैसा कि कहा जाता है कि रस और चर्वणा में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। यथा रस की उत्पत्ति कल्पना निरर्थक वैसे ही चर्वणा की भी। किन्तु जैसे चर्वणा में आविर्भाव–तिरोभाव के दर्शन से उपचारतः उत्पत्ति की कल्पना की जा सकती है वैसे ही चर्वणात्मक या सहृदय–हृदय की अनादि वासना के परिणाम स्वरूप, अभिव्यक्त रत्यादिभाव में भी उपचारतः उत्पत्ति की कल्पना हो ही सकती है। लोक में जो जो पदार्थ लौकिक रत्यादिभावों के उद्बोधक हुआ करते हैं वे ही काव्य–नाट्य में निविष्ट होने पर विभाव कहे

जाते हैं। 'अग्निपुराण' में विभाव के दो भेद माने गये हैं—आलम्बन और उद्दीपन—

विभावो नाम स द्वेधाऽऽलम्बनोद्दीपनात्मकः।[85]

आलम्बनविभाव

आलम्बनविभाव के सम्बन्ध में 'अग्निपुराण' में कहा गया है—

रत्यादिभाववर्गोऽयं यमाजीव्योपजायते।
आलम्बनविभावोऽसौ नायकादिभवस्तथा।।[86]

अर्थात् रत्यादि स्थायीभावों का वर्ग इस आलम्बन का ही उपजीवी होता है। यह आलम्बन विभाव नायकादि में ही होता है अथवा नायकादि को आलम्बन विभाव कहते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जिसको आलाम्बन करके रस की उत्पत्ति होती है उसको आलम्बनविभाव कहते हैं। जैसे सीता को देखकर राम के मन में और राम को देखकर सीता के मन में रति की उत्पत्ति होती हैं। इन दोनों को देखकर सामाजिक के भीतर रस की अभिव्यक्ति होती है। अतः राम—सीतादि शृङ्गार रस के आलम्बन विभाव कहलाते हैं।

उद्दीपनविभाव

उद्दीपन विभाव उस विभाव को कहते हैं जिससे रस उद्दीप्त होता है। जैसे, चाँदनीरात्रि, उद्यान, एकान्तस्थान आदि द्वारा उस रति इत्यादि का उद्दीपन होता है। इसी को उद्दीपन विभाव कहा जाता है।

अनुभाव

अग्निपुराण में अनुभाव के विषय में इस प्रकार कहा गया है—

आलम्बनविभावस्य भावैरुदबुद्धसंस्कृतैः।
मनोवाग्बुद्धिवपुषां स्मृतीच्छाद्वेषयत्नतः।।
आरम्भ एव विदुषामनुभाव इति स्मृतः।
स चानुभूयते चात्र भवत्युत निरुच्यते।।[87]

अर्थात् मन की स्मृति से, वाणी की इच्छा से, बुद्धि की प्रेरणा से एवं शरीर के यत्न से आलम्बनविभाव के उद्बुद्ध एवं परिष्कृत भावों के आरम्भ को विद्वानों ने अनुभाव कहा है क्योंकि इसका अनुभव किया जाता है अतः

इसे अनुभाव कहा जाता है। आचार्यविश्वनाथ इसके सम्बन्ध में कहते हैं–

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्वहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः।।[88]

अर्थात अपने–अपने आलम्बन या उद्दीपन कारणों से सीता–रामादि के भीतर उद्बुद्ध रति आदि रूप स्थायीभाव को वाह्यरूप में जो प्रकाशित करता है, वह रत्यादि का कार्य रूप काव्य और नाट्य में अनुभाव कहा जाता है। आलम्बन और उद्दीपन विभाव रसानुभूति के बाह्य धर्म बतलाये जाते हैं उसी प्रकार व्यभीचारीभाव तथा अनुभाव उस आन्तरिक रसानुभूति से उत्पन्न, उसकी वाह्याभिव्यक्ति के प्रयोजक शरीर तथा मानसिक व्यापार है। इन्हें इसका कारण, कार्य तथा सहकारी कहा जाता है। आचार्यभरत का इस सम्बन्ध में मानना है–

वागङ्गभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः।।[89]

अर्थात् जो वाचिक या आङ्गिक अभिनय के द्वारा रत्यादि भाव की आन्तर अभिव्यक्तिरूप अर्थ का वाह्यरूप में अनुभव कराता है इसको अनुभाव कहते हैं। अनुभाव चार प्रकार के होते हैं–चितारम्भ, वागारम्भ, वुद्धयारम्भ और शरीरारम्भ।

चित्तारम्भ

इसमें मानसिक व्यापार के आधिक्य को मन आरम्भ या चित्तारम्भ कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है–पौरुष और स्त्रैण–

मनोव्यापारभूयिष्ठो मन आरम्भ उच्यते।
द्विविधः पौरुषः स्त्रैण ईदृशोऽपि प्रसिध्यति।।[90]

पौरुष

पौरुष चित्तारम्भ के विषय में अग्निपुराण में कहा गया है–

शोभा विलासो माधुर्य स्थैर्य गाम्भीर्यमेव च।
ललितं च तथौदार्य तेजोऽष्टाविति पौरुषाः।।[91]

अर्थात् पुरुष में रहने वाले अनुभाव आठ प्रकार के होते हैं–शोभा, विलास माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य एवं तेज। पुरुष इन्हीं अनुभावों से मण्डित रहा करता है।

स्त्रैण

स्त्रैण चित्तारम्भ के विषय में इस प्रकार अग्निपुराण में उल्लखित है–

भावोहारश्च हेला च शोभा कान्तिस्तथैव च।
दीप्तिर्माधुर्यशौर्ये च प्रागल्भ्यं स्यादुदारता।
स्थैर्य गम्भीरता स्त्रीणां विभावा द्वादशेरिताः।।[92]

अर्थात् भाव, हार, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, शौर्य, प्रागल्भ्य या प्रगल्भता, उदारता, स्थिरता गम्भीरता ये बारह प्रकार के विभाव स्त्रियों के होते हैं।

वागारम्भ

वाणी का कथन वागारम्भ व्यापार है यह भी बारह प्रकार का होता है–

भावोविलासो हावः स्याद्भावः किंचिच्चहर्षजः।
वाचोयुक्तिर्भवेद्वागारम्भो द्वादश एव सः।।[93]

अर्थात् भाव के विलास को ही हाव कहते हैं। इसमें हर्ष रहता है। वचन वक्रता को ही वागारम्भ कहते हैं। यह बारह प्रकार का होता है–

तत्र भाषणमालापः प्रलापो वचनं बहु।
विलापो दुःखवचनमनुलापोऽसकृद् वचः।
संलाप उक्त प्रत्युक्तमपलापोऽन्यथा वचः।
वार्ता प्रमाणं संदेशो निर्देशः प्रतिपादनम्।
तत्त्व देशोऽति देशोऽयमपदेशोऽन्यवर्णनम्।
उपदेशश्चशिक्षावाग्व्याजोक्तिर्व्यपदेशकः।।
बोधाय एष व्यापारः सुबुद्धयारम्भ इष्यते।।[94]

ये बारह इस प्रकार हैं–आलाप, प्रलाप, विलाप, संलाप, अपलाप सन्देश, अपदेश, उपदेश, और व्यपदेश।

बुद्धयारम्भ

बुद्धयारम्भ व्यापार तीन प्रकार का होता है–

रीति वृत्ति और प्रवृति

तस्य भेदास्त्रयस्तं च रीतिवृत्ति प्रवृत्तयः।[95]

शरीरारम्भ

शरीर के अङ्ग–प्रत्यङ्गों के द्वारा किया गया आरम्भ चेष्टा शरीराम्भ है। ये बारह प्रकार के हैं–लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित, विकृत, क्रीडित और कलि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'अग्निपुराण' में रस एवं भाव आदि का सम्यक् विवेचन किया गया है जो नाट्य शास्त्रीय दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

संदर्भ :

1. तैत्तरीयोपनिषद्,, 3/7
2. अग्निपुराण, 339/1–2
3. वही, 339/9–10
4. द्विवेदी डॉ. पारसनाथ, नाट्यशास्त्र का इतिहास, पृ. 123–124
5. अग्निपुराण 342/17
6. नाट्यशास्त्र, 6/37–38
7. दशरूपक, 4/1
8. काव्यप्रकाश, 4/27–28
9. साहित्यदर्पण, 3/1
10. काव्यप्रकाश, 4/28, वृत्तिभाग
11. अग्निपुराण, 339/8–9
12. वही, 339/4
13. वही, 339/5–7
14. वही, 342/3
15. वही, 342/4–9
16. वही, 342/9–11
17. वही, 342/11–12
18. वही, 342/13
19. वही, 342/14–15
20. वही, 342/15
21. वही, 342/16–17

22. उत्तररामचरित, 3/47
23. भक्तिरसामृतसिन्धु, 2/5/106
24. काव्यप्रकाश, 1/1
25. दशरूपक, 4/4
26. नाट्यशास्त्र, 7/2–3
27. साहित्यदर्पण, 3/181
28. अग्निपुराण, 339/12
29. वही, 339/35
30. दशरूपक, 4/34
31. अग्निपुराण, 339/13
32. वही, 339/13
33. वही, 339/14
34. वही, 339/14
35. वही, 339/15
36. वही, 339/15
37. वही, 339/16
38. वही, 339/16
39. वही, 339/17
40. वही, 339/17
41. दशरूपक, 4/4–5
42. साहित्यदर्पण, 3/134
43. अग्निपुराण, 339/18
44. वही, 339/18
45. वही, 339/19
46. वही, 339/19
47. वही, 339/20
48. वही, 339/20
49. वही, 339/21
50. वही, 339/21
51. दशरूपक, 4/7
52. साहित्यपर्दण, 3/140

53. अग्निपुराण, 339/22
54. वही, 339/22
55. वही, 339/23
56. वही, 339/23
57. वही, 339/23
58. वही, 339/24
59. वही, 339/24
60. वही, 339/25
61. वही, 339/25
62. वही, 339/26
63. वही, 339/26
64. वही, 339/27
65. वही, 339/27
66. वही, 339/28
67. वही, 339/28
68. वही, 339/29
69. वही, 339/29
70. वही, 339/30
71. वही, 339/30
72. वही, 339/31
73. अग्निपुराण, 339/31
74. वही, 339/32
75. वही, 339/32
76. वही, 339/32
77. वही, 339/33
78. वही, 339/33
79. वही, 339/33
80. वही, 339/34
81. वही, 339/34
82. नाट्यशास्त्र, 6/19–22
83. दशरूपक, 4/2

84. साहित्यदर्पण, 3/28–29
85. अग्निपुराण, 339/36
86. वही, 339/36–37
87. वही, 339/44–45
88. साहित्यदर्पण, 3/132
89. नाट्यशास्त्र, 7/5
90. अग्निपुराण, 339/46
91. वही, 339/47
92. वही, 339/49–50
93. वही, 339/50–51
94. वही, 339/50–54
95. वही, 339/54

□

सारांश

साहित्य विधा के रूप में नाटक का अत्यधिक महत्त्व माना जाता है। यह विधा सहज रूप से मानव हृदय में विद्यमान रस का उद्रेक कर उसे आह्लाद से भर देती है। आह्लाद या आनन्द ही नाट्य विधा का परमोद्देश्य है। नाट्य में उस अनुभूति की परम्परा प्राप्त होती है जो ऋषि–मुनियों की सहज अनुभूति होती है। दृश्यता के ताना–बाना से निर्मित यह सबसे अग्रगण्य है। इसका अनुशासन भी अन्य साहित्य की तुलना में कठिन और दूरूह होता है। श्रव्यकाव्य उतना दूरूह और क्लीष्ट नही होता जितना नाट्य साहित्य। नाट्य के सभी पात्र मंच पर जो भी व्यवहार करते हैं उन सभी का एक अनुशासन होता है। नाट्यपात्र नाट्यानुशासन में अनुशासित होकर ही नाट्याभिनय करता है। वह बिना अनुशासन का मंच पर कोई भी व्यवहार नही करता है। उसका नाट्यानुशासन सकल नाट्यमहिमा का द्योतक होता है। इसी नाट्यानुशासन को सुव्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में हमारे ऋषि, मुनियों एवं आर्योंने प्रतिपादित किया है। उन्ही में से एक 'अग्निपुराण' भी है, जिसमें नाट्य के विविध अनुशसानों को शास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित किया गया है। जिसका नाट्यदर्शन नाट्य प्रयोग की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

'अग्निपुराण' का नाट्य दर्शन महनीय नाट्य सिद्धान्तों में से एक है। यह सहृदय को अभिनय की अतल गहराई में ले जाकर रस को पुष्ट करता है। जहाँ उसके चारों ओर रस की अभिव्यक्ति होने लगती है। नाट्क का नाट्य प्रयोग ही नाट्य महनीयता का परिचायक होता है और जब उसका नाट्य प्रयोग शास्त्रीय मानदण्डों पर आधारित हो तो पूछना ही क्या ? मंच पर स्थित पात्र उस काले कजरारे बादल के समान सहृदय मन में वर्षा करने लगता है। ठीक वैसे ही जैसे वर्षाऋतु में मनुष्य का पूरा तन भींग जाता हे। इसलिए अभिनय का विशेष शास्त्रीय अनुशासन माना जाता है। उस शास्त्रीय अनुशासन में किया गया अभिनय ही लोकोपकारी होता है क्योंकि शास्त्र ही

विधि–निषेध का प्रतिपादक होता है।

भारत भूमि प्रारम्भ से ही आर्ष मनीषा को आत्मसात करके पुष्पित एवं पल्लवित हुई है। ऋषियों–मुनियों के पोषण से पोषित इस भूमि की उर्वरता में जो दिनों–दिन सम्वृद्धि हुई है, उसका एक मात्र कारण श्रेष्ठ अनुशासन की सत्प्रेरणा ही है। पुराण को सुहृद शैली में उपदेश प्रदान करने वाला माना जाता है। यह अपने उपदेश के माध्यम से सम्पूर्ण समाज में शास्त्रीय सत्प्रेरणा का जन्म देता है। जिसमें लोक और शास्त्र दोनों समाहित होता हे। यही उसकी सामासिक संस्कृति लोक–लोकोत्तर हो जाती है। जिस प्रकार काव्य या नाट्य में लौकिक विषयों के द्वारा लोकोत्तर का अनुभव किया जाता है उसी प्रकार पुराण भी लोक से लोकोत्तर की ओर गमन करता है। 'अग्निपुराण' भी इससे अछुता नहीं है। यह भी बहुप्रकारेण लौकिक जीवन की सुख--समृद्धि के साथ पारलौकिक जीवन पर प्रकाश डालता है जिससे प्रकाशित होकर मानव सहजतापूर्वक परमानन्दमय हो जाता है। यह पामानन्द की स्थिति उसे दो रूपों में प्राप्त होती है–प्रथम आध्यात्म से और द्वितीय नाट्य से।

'अग्निपुराण' अपने नाट्यशास्त्री प्रतिमानों से लोकोत्तरता का जन्म देता है। वहाँ पहुंचकर पाठक 'सद्यपरनिवृत्ति' की स्थिति को प्राप्त करता है। वह लोकिक जीवन को भूलकर, नाट्यलोक में रमण करने लगता है। यही नाट्य की लोकोत्तरता है। नाट्य में त्रिलोक के भावों का अनुकीर्तन होता है। कहने का भाव यह है कि सम्पूर्ण लोक के सुख–दुःख, लाभ–हानि, राग–द्वेष, जय–पराजय, यश–अपयश इत्यादि विषयों का चित्रण नाट्य में किया जाता है और यही चित्रण उसके लोकोत्तरता का नियमक सिद्ध होता है जो लोक में दुःख प्रदान करता है वहा नाट्य में आनन्द निकेतन के समान बन जाता है। यह नाट्य की विलक्षणता है। जब हम 'उत्तररामचरितम्' में सीता के वियोग राम को रोते हुए देखते हैं अथवा विलाप करते हुए देखते हैं तो उस करूण रस में भी हमें आनन्द की ही अनुभूति होती है। आखों से झर–झर नीर गिरते हैं और हृदय रस के उद्रेक से चमत्कृत होता जाता है। यही तो ब्रह्मानन्द सहोदर है, इसी को तो नाट्य सौन्दर्य कहा जाता है। वस्तुतः नाट्य को समस्त ललित कलाओं शिल्पकलाओं तथा लोक कलाओं, का कोश माना जाता है। सभी कलाएँ इसी के कोख से उत्पन्न होकर अनेक रूप धारण की हुई हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में अग्निपुराण के नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्त का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है क्योंकि यह भूत–वर्तमान के साथ अतीत का भी नाट्य दर्शन है।

अग्निपुराण एक शास्त्रीय पुराण है। लोक के साथ–साथ यह शास्त्रीय

मान्दण्डों को भी प्रस्तुत करता है। लोक सदैव शास्त्र के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है। यहाँ ज्योतिषशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजशास्त्र, आयुशास्त्र और नाट्यशास्त्र आदि का विधिवत प्रतिपादन मिलता है। यह इन्हीं शास्त्रों के प्रकाश से सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करने का प्रयास करता है। यद्यपि शास्त्र लोकाश्रित होता है लेकिन जहाँ ज्ञान की बात आती है, निर्देश समझने की बात आती है वहाँ शास्त्र को ही कसौटी माना जाता है। इसलिए रस की शास्त्रीयता का प्रमाण भी लोक है क्योंकि शास्त्रीय सिद्धान्त की व्यावहारिक अनुभूति सहृदय के अन्दर ही होती है। अतः लोक ही इनका विषय–वस्तु है यह पुराण लोक का लोक के लिए रूप में सामने आता है। यदि हम इसके नाट्यशास्त्रीय पक्ष की ओर ध्यान दे यहाँ तो नाट्य स्वरूप एवं प्रकार पूर्वरंग–प्रयोग, वस्तुविधान, पात्रयोजना, अभिनय, वृत्ति और रस आदि विषय को एक सिद्धान्त रूप में पतिपादित किया गया है। अग्निपुराण में रूपकों संख्या सत्ताईस मानी गयी है जो इस प्रकार है– नाटक, प्रकरण, डिम, इहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अंक, त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, कर्ण, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशाक, काव्य, श्रीगदित, नाट्यरासक, रासक, उल्लाप्यक और प्रेक्षण। इन सभी का विधिवत प्रतिपादन इस ग्रन्थ में किया गया है।

अग्निपुरण के आलोक में पूर्वरंग के विषय–क्षेत्र को भी यहाँ निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। वस्तुतः जिसमें पहले–पहल समाजिक का अनुरंजन किया जाता है वही पूर्वरंग कहलाता है। पूर्वरंग से सम्बन्धित नान्दी, सूत्रधार, आमुख या प्रस्तावना आदि के वर्णन से इस ग्रन्थ की महनीयता बढ़ गयी है। वस्तु विधान के रूप में इस ग्रन्थ के माध्यम से पांच अर्थप्रकृतियाँ, पांच कार्यावस्थाएँ और पांच सन्धियों का विधिवत वर्णन नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुरूप किया गया है। इसके प्रतिपादन से नाट्य के विषय–वस्तु का सैद्धान्तिक पक्ष सामने उभर कर आता है। पात्रयोजना के अन्तर्गत नाटकीय पात्रों का प्रतिपादन किया गया है क्योंकि नाट्य के प्राण पात्र ही होते हैं। एतदर्थ यहाँ पुरूष और स्त्री दोनों प्रकार के पात्रों का उल्लेख किया गया है। पुरूष पात्र के रूप में चतुर्विध नायक, पीठमर्द, विट, विदूषक के साथ–साथ अनुकूलनायक, दक्षिणनायक, शठनायक और धृष्टनायक का विधिवत वर्णन किया गया है। स्त्री पात्र के रूप में अग्निपुराणोक्त यहाँ तीन प्रकार की स्त्रियों बतलायी गयी है – उत्तमा, मध्यमा और अधमा। नायिकाएँ तीन प्रकार की होती है – स्वकीया, परकीया और सामान्या। स्वकीया नायिका के तीन भेद हैं – मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। परकीया नायिका के

दो भेद हैं – कन्या एवं विवाहिता और सामान्या नायिका दो भेद – रक्ता और विरक्ता को विशेष रूप से प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है।

अग्निपुराण में नाट्य के प्रधान अंग के रूप में अभिनय एवं वृत्तियों पर भी गम्भीर मीमांसा की गयी है। विविध प्रकार के अभिनय से ही रसानुभूति होती है। हमारे सम्मुख जिस व्यक्तित्त्व सम्बन्धी अभिनय किया जाता है उससे उस व्यक्ति की दृश्यता प्रकट होती है। उसी का अनुकरण पात्र करता है और सामाजिक रस की अनुभूति करता है। यही रस निष्पत्ति का कारण बनता है। इसी को हमारे आचार्यों ने आनन्दमात्र स्वभावा कहा है। यह अभिनय चार प्रकार का होता है – सत्त्वाश्रय–अभिनय, वागारम्भ–अभिनय, अंगाश्रय–अभिनय और आहरणाश्रय–अभिनय। नाट्य सिद्धान्त के रूप में वृत्ति का भी विशेष महत्त्व होता है। इसीलिए यहाँ वृत्तियों की शास्त्रीयता को भी प्रतिपादित किया गया है। नायक के व्यापार को वृत्ति कहा जाता है। नाट्य रस रूप में वृत्तियों की स्थिति अन्यतम है। अतः इन्हें नाट्य की माता के रूप में स्वीकार किया गया है। यहाँ वृत्तियों के चार भेद बतलाये गये हैं– भारतीवृत्ति, आरभटीवृत्ति, कौशिकीवृत्ति और सात्त्वतीवृत्ति। इन सबके निरूपण से नाट्य दर्शन का प्रकाशन सहज रूप में हुआ है।

प्रस्तुतग्रन्थ में रस विषयक मीमांसा भी विधिवत प्रतिपादित है। अग्निपुराण का रस सिद्धान्त वेदान्त के ब्रह्म विषयक सिद्धान्त पर आधारित है। जिसमें बतलाया गया है कि परम ब्रह्म परमेश्वर अक्षय है। वह शाश्वत अजन्मा और समस्त सृष्टि में परिव्याप्त है। वेदान्तग्रन्थों में उसे अद्वितीय ज्योतिर्मान तथा सामर्थ्यवान माना गया है। उसका आनन्द स्वाभाविक है पर उसकी अभिव्यक्ति कभी–कभी होती है। उसकी अभिव्यक्ति का नाम चैतन्य चमत्कार अथवा रस हैं। इस ब्रह्म की अभिव्यक्ति का नाम रस है, वही चैतन्य, चमत्कार है। इसी रूप में यहाँ शृंगाररस, हास्यरस, करूणरस, रौद्ररस, वीररस, भयानकरस, वीभत्सरस अद्भुतरस और शान्तरस की अभिव्यक्ति मानी गयी है। साथ ही साथ व्यभिचारीभाव, विभाव, अनुभाव, आलम्बन, उद्दीपन और स्थायी भावों की सम्यक मीमांसा प्रस्तुत की गयी है। इन सभी मीमांसा से युक्त यह ग्रन्थ 'अग्निपुराण' के नाट्य दर्शन रूप में नाट्य सिद्धान्त, पूर्वरंग, वस्तुविधान, पात्र, अभिनय, वृत्ति एवं रस आदि का व्यावहारिक स्वरूप प्रस्तुत करता है। जिससे नाट्य दर्शन की महनीयता व विलक्षणता का प्रकाशन स्वतः हो जाता है ☐।

सन्दर्भग्रन्थ

मूलग्रन्थ

अग्निपुराणः हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, तृतीय–संस्करण, 2007।

अथर्ववेद, :विश्वश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियरपुर, पंजाब संरकरण, 1960।

अष्टाध्यायीः चौखम्बा ओरियन्टल, वाराणसी, प्रथम–संस्करण 1977।

अभिनवभारती :(1–4) गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा, संस्करण 1964।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् : चौखम्भा, ओरियन्टाल, वाराणसी, चतुर्थ–संस्करण, 2005।

उत्तररामचरितम् :साहित्य भण्डार, मेरठ, उ.प्र. संस्करण–2004।

उत्तररामचरितम् :रामनारायण विजग कुमार, इलाहाबाद, संस्करण–2011।

एतरेयब्राह्मणः आनन्द आश्रम, पूना, संस्करण–1930।

ऋग्वेदः चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम–संस्करण–1998।

कर्पूरमञ्जरीः कृष्णदास अकादमी वाराणसी, प्रथम–संस्करण–1983।

काव्यादर्शःमेहरचन्दलक्षमनदास, दिल्ली, प्रथम–संस्करण–1973

काव्यादर्शः चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय–संस्करण, 1984

काव्यालङ्कार सूत्राणिःवामन, चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी, द्वितीय–संस्करण, 2013।

काव्यालङ्कारःभामह, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी द्वितीय–संस्करण, 2013।

काव्यालङ्गरः रूद्रट, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, द्वितीय–संस्करण, 2015।

काव्यमीमांसा : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी संस्करण, 2013।

काव्यप्रकाशः साहित्य भण्डार, मेरठ, उ.प्र. प्रथम संस्करण, 1960।

काव्यप्रकाशः वाराणसी ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, संस्करण–2004।

किरातार्जुनीयम् :चौखम्बा, सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण–2015।

कुमारसम्भवम्: कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, प्रथम–संस्करण, 1997।

कूर्मपुराणः गुरूमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, संस्करण–1961।

गरूणपुराणः चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, संस्करण, 2000।

चन्द्रालोकः निर्मल प्रकाशन, फैजाबाद, उ.प्र. संस्करण–2010।

तन्त्रवार्तिकः मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1990।

दशरूपकः साहित्यभण्डार, मेरठ, उ.प्र., द्वादश–संस्करण–2003।

दशरूपकः चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण–1973।

ध्वन्यालोकः निर्णयसागर प्रेस, बम्बई संस्करण–1911।

ध्वन्यालोकः वाराणसी ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय–संस्करण, 1998।

नाट्यदर्पणः परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, संस्करण–1986।

नाट्यशास्त्रः चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1983।

नाट्यशास्त्रः सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, संस्करण, 1992–1995।

नाट्यशास्त्रः विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2014।

नारदीयपुराणः हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम–संस्करण, 1990।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराणः गुरूमण्डल ग्रन्थमाला कलकत्ता, संस्करण–1955।

ब्रह्माण्डपुराणः कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, प्रथम–संस्करण, 1983।

भक्तिरसामृतासिन्धु :चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण–2002।

ब्रह्मपुराणः गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.सं. 1960।

भविष्यपुराणः कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण–1990।

भावप्रकाशनः गायकवाड़, ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, संस्करण–1930।

मत्स्यपुराण: गुरूमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, संस्करण–1954।
महाभारतः परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम–संस्करण, 2001।
मार्कण्डेयपुराणः नाग पब्लिशर्स, दिल्ली प्रथम–संस्करण, 1990।
मालविकाग्निमित्रम्: कालीदासग्रनथावली उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, षष्ठ–संस्करण, सं. 2063।
मुद्राराक्षसः चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, चतुर्थ–संस्करण, 1973।
मृच्छकटिकम् :साहित्य भण्डार, मेरठ, उ.प्र., नवम्–संस्करण, 2011।
याज्ञवल्वयस्मृतिः परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, संस्करण–2011।
रत्नातली: साहित्यभण्डार, मेरठ उ.प्र. संस्करण–1986।
रघुवंशः चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पंचम–संस्करण, 1985।
रसगङ्गाधरः चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण–2008।
रामायणः गीताप्रेस गोरखपुर, बत्तीसवाँ–संस्करण, वि.स. 2064।
वक्रोक्तिजीवितम्: चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, संस्करण, 2001
वाराहपुराणः चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय–संस्करण, 1982।
विक्रमोर्वश्वीयम्: कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, प्रथम–संस्करण, 1984।
विष्णुपुराणः गीताप्रेस, गोरखपुर, इक्तीसवाँ–संस्करण, वि.स. 1982।
विष्णुधर्मोत्तरपुराणः गायकवाड़ ग्रन्थालय, बड़ौदा, संस्करण–1958।
वेणीसंहारनाटकम्: साहित्य भण्डार, मेरठ, उ.प्र. नवम्–संस्करण, 2003।
साहित्यदर्पणः चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, संस्करण–2013।
साहित्यदर्पणः चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण–2007।
स्कन्दपुराणः आनन्द आश्रम मुद्रायालय, पूना, प्रथम–संस्करण, 1924।
स्वप्नवासवदत्तम्: कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, संस्करण–1955।
हर्षचरितम्: चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण–2005।
श्रीमदभावतपुराणः गीताप्रेस, गोरखपुर, चौबिसवाँ–संस्करण, वि.स. 2062।

सहायक ग्रन्थ

आप्टेवामन शिवरामः संस्कृत हिन्दी कोश, मोतीलाल बनारसीदास

पब्लिशर्स, प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, संस्करण–1961।

उपाध्याय प. बलदेव :संस्कृत आलोचना, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पंचम–संस्करण, 2009।

उपाध्याय आचार्य बलदेवः पुराणविमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी संस्करण–2010।

उपाध्याय, पद्मभूषण : संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा निकेतन, वाराणसी, दशम–आचार्य बलदेवसंस्करण, 1992।

काणे पी.वी.: संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, मोतीलाल वनारसीदास, वाराणसी, पंचम–संस्करण, 2015।

केतकर कु. गोदावरी, वासुदेवःनाट्यशास्त्र, परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली, प्रथम–संस्करण, 1998।

खॉ डॉ. मुहम्मद इसराइलः संस्कृत नाट्यसिद्धान्त के अनालोचित पक्ष, क्रीसेण्ट पब्लिशिंग हाऊस, गाजियाबाद, उ.प्र. प्रथम–संस्करण, 1985।

गैरोला, वाचस्पतिः भारतीय नाट्यपरम्परा और अभिनय दर्पण, संपतिका प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम–संस्करण, 1967।

चतुर्वेदी प. गिरिधरशर्मा:पुराण परिशीलन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, द्वितीय–संस्करण, 1998।

डे. डॉ. सुशील कुमारः संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, बिहार राष्ट्र हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, द्वितीय–संस्करण, 1988।

दत्ता डॉ. कुसुम भूरियाः नाट्यशास्त्रीय मूलतत्त्वों की विकास परम्परा, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम–संस्करण, 2012।

द्विवेदी, आचार्य रेवाप्रसादः संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास, कालिदास संस्थान, वाराणसी, संस्करण–2007।

द्विवेदी डॉ. पारसनाथः नाट्यशास्त्र का इतिहास, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण–2010।

द्विवेदी डॉ. पारसनाथः अग्निपुराणोक्त काव्यलङ्कारशास्त्रम्, वाराणसी संस्करण–2006।

द्विवेदी डॉ. हजारी प्रसादः भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम–संस्करण, 1963।

पाण्डेय, अमरनाथ :संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी, प्रथम–संस्करण, 2009।

पाण्डेय, रामजी : भारतीय नाट्य सिद्धान्त : उद्‌भव एवं विकास, बिहारराष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, संस्करण–1982।

मीणा डॉ. गोपाललालः नाट्यशास्त्रीय सन्दर्भ में दशरूपक, मनीष प्रकाशन, वाराणसी, उ.प्र. प्रथम–संस्करण, 2014।

शर्मा डॉ. कृष्णदेवः भारतीय काव्यशास्त्र, विनोदपुस्तक मन्दिर, आगरा, संस्करण–1970।

शर्मा, देवेन्द्रनाथः पाश्चात्य काव्यशास्त्र, मयुरपेपर बैक्स, नोएडा आठवां संस्करण–2004।

शर्मा आचार्य निगमः ऋग्वेद में काव्य तत्त्व, परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली, प्रथम–संस्करण, 1998।

त्रिपाठी डॉ. श्री कृष्णमणि : पुराणपरिशीलनम् चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी संस्करण–2012।

त्रिपाठी डॉ. जयशंकरः आचार्यदण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास दर्शन, लोकभारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद, उ.प्र., प्रथम–संस्करण, 1968।

त्रिपाठी जयशंकरः भारतीय साहित्य के निर्माता दण्डी, साहित्य अकादमी तृतीय–संस्करण, 1991।

त्रिपाठी राधावल्लभः भारतीय नाट्य : स्वरूप और परम्परा, संस्कृत विभाग डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, संस्करण–1988।

त्रिपाठी राधावल्लभः संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण–2007।

त्रिपाठी, राधावल्लभः नाट्यशास्त्र विश्वकोश, न्यू.वी.वी.सी. नई दिल्ली, 2015।

त्रिपाठी, डॉ. रमाकान्तः संस्कृत नाट्य सिद्धान्त, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण–1969।

त्रिपाठी डॉ. रामसागरः भारतीय नाट्यशास्त्र, और रङ्ग मञ्च, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–1971।

त्रिपाठी आनन्दप्रकाश : सं. नाट्यशास्त्र विशेषांक, नाट्यम् अंक–80,

नाट्यपरिषद, संस्कृत विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र., 2017।
रामकृष्णः भरतकोष, पूना, संस्करण–1961।
शास्त्री, के.वासुदेवः नाट्यशास्त्र संग्रह, सरस्वती महल लाइब्रेरी तंजौर, संस्करण–1953।

□□□

Satyam

ISBN 978-93-85981-99-9

9 789385 981999

सत्यम् पब्लिशिंग हाउस

एन-3/25, मोहन गार्डन, नई दिल्ली-110059

दूरभाष : 011-25358642, +91-9899665801

ई-मेल : satyampub_2006@yahoo.com